वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००

वर्ष ४५ अंक ७ जुलाई २००७

विवेक-ज्योति
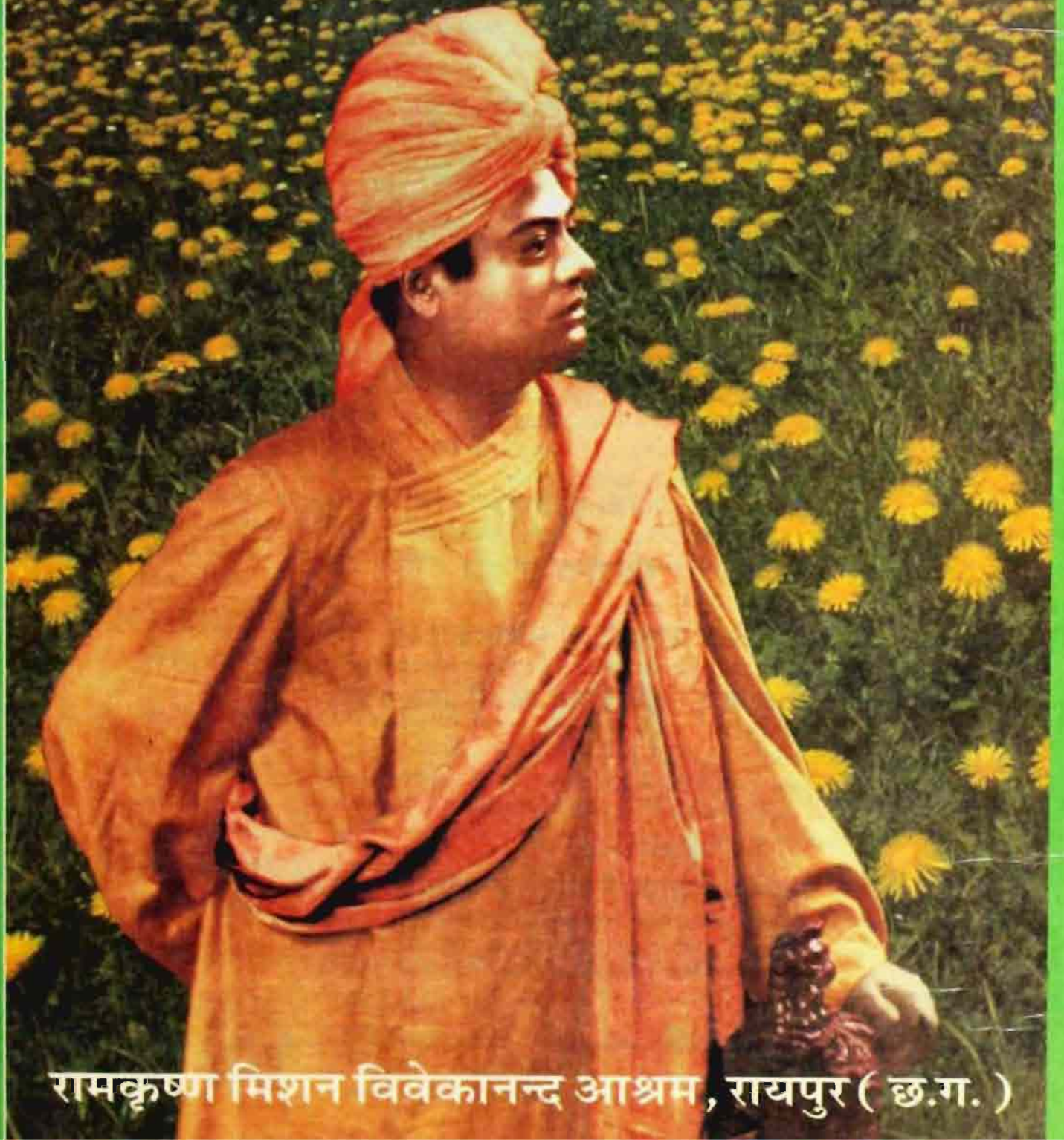
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

|| सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ।। ||
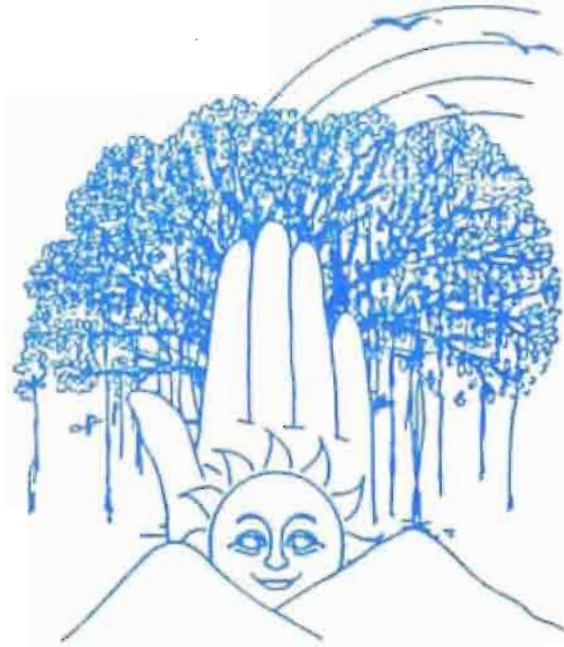
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४५ जुलाई २००७ अंक ७

वैराग्य-शतकम्

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद् यौवनम्
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनान्तकाङ्घ्रि-युगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः ।।८३।।

अन्वय – मनोरथाः च हृदये एव जीर्णा, हन्त अङ्गेषु तद् यौवनं च यातं, गुणज्ञैः विना गुणाः च वन्ध्य-फलतां याताः, बलवान् अक्षमी कालः कृतान्तः अपि सहसा अभ्युपैति, हा ज्ञातम्, किं युक्तं मदनान्तक-अङ्घ्रि-युगलं मुक्त्वा अन्या गतिः न ।

अर्थ – विषयों की कामनाएँ मेरे हृदय में उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो गयी हैं; अहा ! शरीर से यौवन भी जा चुका है; मेरे गुण भी गुणग्राहियों के अभाव में निष्फल ही सिद्ध हुए हैं; बलवान निष्ठुर काल रूपी यम भी सहसा कभी भी आ पहुँचनेवाला है; अहा ! अब मेरी समझ में आ गया है कि कामदेव के नाशक भगवान शिव के चरण-कमलों के अतिरिक्त मेरे लिये अब अन्य कोई भी आश्रय नहीं रह गया है।

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ।।८४।।

अन्वय – जगताम् अधीश्वरे महा-ईश्वरे वा जगत्-अन्तः आत्मनि जनार्दने वा मे वस्तु-भेद-प्रतिपत्तिः न अस्ति तथा-अपि तरुण-इन्दु-शेखरे भक्तिः ।

अर्थ – जगत् के अधीश्वर महादेव शिव और जगत् में ओतप्रोत भगवान विष्णु – इन दोनों के बीच मुझे तत्त्व का कोई भेद नहीं दिखाई देता; तथापि मेरी भक्ति तो मस्तक पर बालचन्द्र धारण किये भगवान शिव* पर ही है।

– भर्तृहरि

* इष्टनिष्ठा – पिछले श्लोक में कवि ने कहा है कि भगवान शिव के चरणों के अतिरिक्त मेरे लिये अन्य कोई आश्रय नहीं रह गया है। इस श्लोक में वे बताते हैं कि वैसे भगवान विष्णु तथा महादेव शिव – दोनों अभेद हैं, परन्तु मेरे अपने इष्ट देवता भगवान शिव ही हैं।

चार कुण्डलियाँ

– १ –

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय,
बिन पानी-साबुन दिये, निरमल करे सुभाय ।*
निरमल करे सुभाय, चला वाणी का निर्झर,
साधक का वह चित्त शुद्ध करता है सत्वर ।
कह 'विदेह' वह पाप सभी का अपने सिर ले,
ले जाता प्रभु ओर, राखिये निन्दक नियरे ।।

– २ –

आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास,
इसी तरह से हो गया, अपना सत्यानाश ।।
अपना सत्यानाश, इष्ट से चित न लगाया,
खाया, पीया और किया, जो जी में आया ।।
कह 'विदेह' चिड़िया चुगती खेती जीवन को,
जो कुछ बचा उसी में कर लो, हरि भजन को ।।

– ३ –

सरस्वती का रूप है, वाणी सुधा समान,
वाणी के उपयोग से, हो माँ का सम्मान ।।
हो माँ का सम्मान, मौन अति उचित न भैया,
ज्यादा चुप रहने से, पार न लगती नैया ।।
कह 'विदेह' वह व्यक्ति घोर है मिथ्याचारी,
बाहर चुप, भीतर विषयों की चिन्ता सारी ।।

– ४ –

सदा-सर्वदा जगत् में चुप रह सकता कौन,
अति सर्वत्र निषिद्ध है, अति का भला न मौन ।।
अति का भला न मौन, संयमित बातें कीजै,
सच्चर्चा में सद्‌विचार दीजै औ लीजै ।।
कर 'विदेह' उपयोग, मधुर वाणी जनहित में,
अमर हो गये बुद्ध-विवेकानन्द जगत् में ।।

---

* कबीरदास का एक दोहा

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय शासक

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – शासकगण कैसे दुर्बल हो जाते हैं?

उत्तर – समाज का नेतृत्व चाहे विद्या-बल से प्राप्त हुआ हो, चाहे बाहु-बल से अथवा धन-बल से, परन्तु उस शक्ति का आधार प्रजा ही है। इस शक्ति के आधार से शासक-समाज जितना ही अलग रहेगा, वह उतना ही दुर्बल होगा। परन्तु माया की ऐसी विचित्र लीला है कि जिस प्रजा से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से, छल-बल-कौशल के प्रयोग से अथवा स्वेच्छया दान के द्वारा शक्ति अर्जित की जाती है, वे शीघ्र ही शासकों की दृष्टि में नगण्य हो जाते हैं।

जब पुरोहित-वर्ग ने अपनी शक्ति के आधार रूप प्रजावर्ग से अपने को पूर्णत: अलग कर लिया, तब प्रजा की सहायता पानेवाली तत्कालीन राज-शक्ति ने उसे पराजित किया। फिर जब राज-शक्ति ने भी अपने को पूर्णत: स्वाधीन समझकर अपने और जनता के बीच एक गहरी खाई खोद डाली, तब आम जनता से कुछ अधिक सहायता पानेवाले वैश्य-कुल ने राजाओं को नष्ट कर डाला या फिर अपने हाथ की कठपुतलियाँ बना लिया। अब तक वैश्य-कुल अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर चुका है, इसीलिये प्रजा की सहायता को अनावश्यक समझ कर वह अपने को प्रजावर्ग से अलग करना चाहता है। यहीं इस शक्ति की भी मृत्यु का बीज बोया जा रहा है।[११०]

प्रश्न – शासकों के दुर्बल हो जाने पर समाज कैसे तत्काल परिवर्तित हो जाता है?

उत्तर – सारी शक्ति का आधार होने के बावजूद साधारण प्रजा ने आपस में इतना भेदभाव कर रखा है कि वह अपने सब अधिकारों से वंचित है; और जब तक ऐसा भाव रहेगा तब तक उसकी यही दशा रहेगी।[१११]

राजा, जो सम्पूर्ण प्रजावर्ग का शक्ति-केन्द्र है, बहुत जल्दी भूल जाता है कि शक्ति उसमें इसलिये संचित हुई है कि वह फिर लोगों में हजार गुनी बँट जाय। राजा वेण* की तरह वह सब देवत्व स्वयं में ही आरोपित कर दूसरों को हीन समझने लगता है। उसकी भली या बुरी – किसी भी इच्छा का विरोध करना ही महापाप है। इसीलिये अपने आप ही पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आ जाता है। यदि समाज निर्बल रहा, तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है और राजा-प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होते हुए शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बन जाते हैं। पर यदि समाज-शरीर बलवान रहा, तो शीघ्र ही अत्यन्त प्रबल प्रतिक्रियाँ उपस्थित होती है – जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं, और सिंहासन अजायबघर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है।[११२]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य प्राप्त करता है, और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है।[११३]

प्रश्न – जब दो विभिन्न वर्ग शासन पर अधिकार जमाने का प्रयास करते हैं, तो क्या होता है? उदाहरण सहित बताएँ।

उत्तर– प्राचीन भारत सदियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय – अपनी इन दो प्रधान जातियों की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये एक युद्धक्षेत्र बना रहा।

एक ओर पुरोहित-वर्ग आम जनता पर क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध थे – उस प्रजा को क्षत्रियगण अपने धर्मसंगत खाद्य के रूप में देखा करते थे – और दूसरी ओर, भारत की एकमात्र शक्तिसम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को पुरोहितों के आध्यात्मिक अत्याचार से बचाने तथा निरन्तर बढ़ते हुये उनके कर्मकाण्डों के परिवर्तनों से आम जनता को छुड़ाने के लिये कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ हद तक सफलता भी मिली थी।

यह संघर्ष हमारी जाति के इतिहास के एकदम प्रारम्भिक युगों में ही शुरू हुआ था। समस्त श्रुतियों से यह स्पष्ट रूप

* राजा वेण – राजा वेण की कथा भागवत में आयी है। वे स्वयं को ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि से भी श्रेष्ठ कहते थे। उन्होंने आज्ञा दे रखी थी कि पूजा मेरी ही हो। एक बार कुछ ऋषि उन्हें सदुपदेश देने आये, ताकि उनका अंहकार दूर हो जाय; पर इस मदान्ध राजा ने उनका तिरस्कार किया और उन्हें भी अपनी पूजा करने की आज्ञा दी। इस पर ऋषियों को बड़ा क्रोध आया और उनके उसी क्रोधानल में पड़कर राजा का नाश हुआ। महाराज पृथु भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं, जो इन्हीं वेण राजा के बाहु-मन्थन से उत्पन्न हुये थे।

से प्रकट होता है। फिर जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता श्रीकृष्ण ने समन्वय-मार्ग दिखाया, तो कुछ समय के लिये यह विरोध घट गया। दर्शन, उदारता की सार-स्वरूप गीता की शिक्षा इसी का परिणाम है। पर संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अत: उसका परिणाम अनिवार्य था।

निर्धन एवं अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा इन दोनों जातियों में वर्तमान थी, अत: संघर्ष पुन: भयानक हो उठा। उस काल का जो थोड़ा-सा साहित्य उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। पर अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई, कर्मकाण्ड को नीचा देखना पड़ा और उसका अधिकांश भाग हमेशा के लिये विदा हो गया। यह वही क्रान्ति थी, जिसे हम बौद्ध सुधारवाद के नाम से जानते हैं। धर्म की दृष्टि से यह कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है; और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के द्वारा पुरोहितों का पराभव सूचित करता है।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत ने जिन दो सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को जन्म दिया था, वे दोनों ही क्षत्रिय हैं – श्रीकृष्ण और बुद्ध। और उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन दोनों ही देव-मानवों ने लिंग और जातिभेद को न मानकर सबके लिये ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्‌भुत नैतिक बल विद्यमान था, तथापि वह अतीव ध्वंसात्मक था, और उसकी अधिकांश शक्ति नकारात्मक प्रयासों में ही व्यय हो जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा; और उसका जो कुछ शेष रहा, वह जिन अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों को दूर करने के लिये नियोजित किया गया था, उनसे भी सैकड़ों गुना अधिक भयानक अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों में फँस गया। यद्यपि आंशिक रूप में वह वैदिक पशुबलि निवारण करने में सफल हुआ, पर उसने समस्त देश को मन्दिर, प्रतिमा, यंत्र-तंत्र तथा साधुओं की अस्थियों से पूर्ण कर दिया।

विशेषत: उसके द्वारा आर्य, मंगोल तथा आदिवासियों का जो एक विचित्र मिश्रण हुआ। उससे अज्ञात रूप से कितने ही बीभत्स वामाचार-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। मुख्यतया इसीलिये आचार्य शंकर तथा उनके मतानुयायी संन्यासियों को उन महान् आचार्य बुद्धदेव के उपदेशों के इस विकृत रूप को भारत के बाहर निकाल देना पड़ा।

इस प्रकार मनुष्य-देह धारण करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ आत्मा – स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा परिचालित संजीवनी-शक्ति-प्रवाह भी दुर्गन्धिमय रोग-कीटाणु-पूर्ण क्षुद्र गन्दे जलाशय में परिणत हो गया। इसके बाद भारत को अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक कि आचार्य शंकर और उनके कुछ ही समय बाद रामानुज तथा मध्वाचार्य आविर्भूत नहीं हुए।

इसी बीच में भारत के इतिहास का एक पूर्णत: नया अध्याय आरम्भ हो गया था। प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ लुप्त हो गयीं। ...

बौद्ध आन्दोलन में क्षत्रियगण ही वास्तव में नेता रहे थे और उन्होंने बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। सुधार तथा धर्म-परिवर्तन के उत्साह में संस्कृत भाषा तो उपेक्षित हो गयी और केवल लोक-भाषाओं का ही विकास होने लगा। अधिकांश क्षत्रिय वैदिक साहित्य तथा संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र से अलग हो गये। अत: दाक्षिणात्यों से यह जो सुधार-तरंग उठी, उससे कुछ हद तक केवल पुरोहितों का ही उपकार हुआ, पर भारत की बाकी कोटि-कोटि जनता के पैरों में उसने पहले से भी अधिक शृंखलाएँ डाल दीं।

क्षत्रियगण सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अत: वे ही विज्ञान और स्वतंत्रता के सनातन रक्षक हैं। देश से अन्ध-विश्वासों को हटा देने के लिये चिरकाल से ही उनकी वाणी प्रतिध्वनित हुई है; और भारत के इतिहास के आदि से अन्त तक पुरोहितों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिये वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञानता में निमग्न हो गये, और शेष थोड़ों ने मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर भारत में पुरोहितों की शक्ति दृढ़ करने के लिये तलवार हाथ में ली, तब भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और भारत-भूमि एकदम गर्त में डूब गयी; और तब तक इससे इसका उद्धार नहीं होगा, जब तक कि क्षत्रियगण स्वयं न जागेंगे तथा स्वयं को मुक्त कर शेष जाति के पैरों से जंजीरों को न खोल देंगे।[११४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची – ११०. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) वही, खण्ड ९, पृ. २२१-२२; **१११**. वही, खण्ड ९, पृ. २२२; **११२**. खण्ड ९, पृ. २१७; **११३**. खण्ड ९, पृ. २१५; **११४**. खण्ड ९, पृ. ३५३-५६, २१५
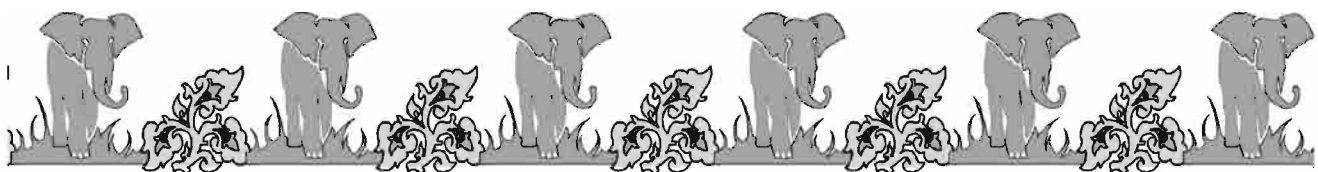
श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

– "हे राम, आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में, जिनकी जिह्वा-रूपी हंसिनी आपके गुणों-रूपी मोतियों को चुनती रहती है, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।"

परम श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज तथा अन्य समस्त सन्तों-ब्रह्मचारियों के चरणों में मेरा शत-शत नमन है। भगवान श्रीराम ने महर्षि ने वाल्मीकि से पूछा – मैं कहाँ निवास करूँ। महर्षि ने श्रीरामभद्र से कहा – वैसे तो आप सर्वत्र निवास करते हैं, परन्तु वस्तुत: निवास के परिणाम का अनुभव तो भक्तों को ही होता है। तो भक्तों का हृदय ही आपके निवास के लिये सर्वोत्तम भूमि है।

वे भक्त कौन हैं? महर्षि ने चौदह रूपों में उन भक्तों का वर्णन किया जिनके हृदय में प्रभु निवास करते हैं। इस तीसरे प्रकार में महर्षि कहते हैं कि आपका यश विमल मानसरोवर है और जिन भक्तों की जिह्वा हंसिनी के जैसे आपके गुणों का चयन करती रहती है, आप उनके हृदय में निवास करें।

यह सृष्टि गुण-दोषमयी है। और दूसरों के गुण-वर्णन के पीछे बहुधा हमारी कोई कामना होती है, कोई लालसा होती है। जब हम किसी से कुछ पाना चाहते हैं, तो उसके गुणों के बारे में बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बोलते हैं और जब हम दूसरों के दोषों का वर्णन करते हैं, तो चर्चित व्यक्ति में वह दोष है या नहीं – यह तो एक सन्दिग्ध-सी बात है, पर जो व्यक्ति अन्य के दोषों का वर्णन करता है, उन क्षणों में उसका मन, उसकी बुद्धि दोषाकार हो जाती है। और इसीलिये –

अन्यस्य दोष-गुण चिन्तन मा श्रृणुत्वा
सेवाकथा रसभवो नितरान्ति मत्वम् ।।

यदि हम दूसरों के गुण-दोषों के चिन्तन से हटकर भगवान के गुणों का वर्णन-चिन्तन-मनन और ध्यान करें, तो हमें वही स्थिति प्राप्त होगी, जो हंस के जीवन में दिखाई देती है। हंस जैसे दूध और जल को अलग करके दूध को पी लेता है; वैसे ही व्यक्ति सत्-असत् का भेद करके, फिर असत् को त्यागकर जीवन में सत् को स्वीकार कर लेता है। जो व्यक्ति प्रभु के गुणों और उनके रहस्य पर दृष्टि डालता है, विचार करता है, उसके जीवन में हंस का गुण आता है।

मोती के सन्दर्भ में एक अनोखा प्रसंग आता है, जिसमें गोस्वामीजी कविता की तुलना मोती से करते हैं। यहाँ तो श्रीराम के गुणों की तुलना मोती से की गई और वहाँ कविता को मोती बताया गया। पर सूत्र वहाँ पर भी वही है कि यदि कोई यह मानता हो कि वह मोती का निर्माण कर सकता है, तो वह सच्चा नहीं, नकली मोती ही होगा। सच्चे मोती की निर्माण-प्रक्रिया के विषय में आपने सुना होगा – स्वाति नक्षत्र में जब मेघ बरसता है, उस समय समुद्र के असंख्य सीपों में से जिस किसी सीप का मुख खुला होता है और उसमें जो बूँद गिरती है, वही मोती बनेगी। गोस्वामीजी कहते हैं कि व्यक्ति सप्रयास जिस कविता का निर्माण करता है, उस कवित्व का स्वरूप ही नकली है। वास्तविक कवित्व के जन्म की पद्धति का वर्णन करते हुये गोस्वामीजी कहते हैं कि सरस्वती मानो स्वाति नक्षत्र हैं और जिस व्यक्ति की बुद्धि सीप के समान है, उस पर जब सरस्वती कृपा करके अपनी प्रतिभा का एक कण उस कवि के हृदय या बुद्धि में डाल देती हैं, तब कविता रूपी मोती का जन्म होता है।

यदि हम गहराई से विचार करें, तो देखेंगे कि संसार के समस्त गुणों के पीछे ईश्वर की अनुकम्पा ही होती है। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि कोई कवि यह अनुभव करता है कि मैं महाकवि हूँ, श्रेष्ठ कविता का निर्माण करता हूँ, तो हमें उसकी कविताओं में भी भेद दिखाई देता है।

कोई कविता बड़ी सरस होती है, व्यापक हो जाती है, लोगों के कण्ठ में प्रतिष्ठित हो जाती है; और कोई कविता ऐसी होती है कि व्यक्ति जो है, कविता के रूप में, छन्द में भले ही वह लिख लिया हो, तुकबन्दी उसमें मिला ली गई हो, शब्दों का चयन कर लिया गया हो, पर वह कविता निष्प्राण होती है। इसका अभिप्राय क्या है? यदि व्यक्ति यह समझ ले कि उसके द्वारा किया गया कार्य उसकी स्वयं की प्रतिभा का परिणाम है, तो उसके द्वारा हर बार एक जैसी कविता का ही निर्माण होना चाहिये। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी, चाहे व्यापार में हो या विद्या के क्षेत्र में, जो सफल व्यक्ति होते हैं, उनकी प्रतिभा सर्वदा एक-सी नहीं दिखाई देती।

तो कविता को मोती कहा गया। मोती बड़ी मूल्यवान और प्रिय वस्तु है। मोतियों की माला पहनकर व्यक्ति बड़ा प्रसन्न होता है। कवि भले ही कविता-रूपी मोती का निर्माता दीख पड़ता हो, परन्तु कविता-मोती का जन्म तो सरस्वती की कृपा से होता है। कवि वह है, जिसका हृदय समुद्र के समान हो और जिसकी बुद्धि सीप के समान हो –

हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
स्वाति सारदा कहहिँ सुजाना।।

हृदय की प्रशंसा उसकी विशालता में है। जिसका हृदय जितना विशाल है, वह व्यक्ति उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। और बुद्धि की विशेषता उसकी सूक्ष्मता में है। किसी की बुद्धि की प्रशंसा करनी हो, तो आप कहते हैं – इसकी बुद्धि बड़ी पैनी है, बड़ी सूक्ष्म है। समुद्र के समान हृदय और सीप के समान बुद्धि ! सीप यद्यपि बहुत छोटा है, पर उसमें स्वाति के बूँद को ग्रहण करने और मोती को जन्म देने की क्षमता है। इसलिये जब बुद्धि-सीप में सरस्वती की कृपा-जल की वर्षा होती है, तब उसमें कविता-मोती का जन्म होता है।

अब कवि जो कविता बनाता है, उसका क्या उद्देश्य होना चाहिये? इस मोती का उपयोग क्या है? – माला का निर्माण और इसके लिये उसमें छेद करना पड़ता है। मोती में यदि छेद न करें, तो उसे गूथा कैसे जायेगा? और बिना गूथे माला कैसे बनेगी? गोस्वामीजी कहते हैं उस कविता की मोती में युक्ति का छेद कीजिये और भगवान श्रीराम के चरित्र और गुण के धागे में इसको पिरो लीजिये।

गुण रस्सी है, धागा है और गुण सद्गुण भी है। प्रभु का गुण धागा है और कविता मोती है। बड़ी विचित्र बात है कि मोती मूल्यवान होता है, धागा तो मूल्यवान नहीं होता। यदि गोस्वामीजी को माला ही बनाना था तो भगवान के गुणों को मोती बता सकते थे, जैसा कि उन्होंने प्रारम्भ में उद्धृत दोहे में कहा। कविता को धागा और भगवान के गुण को मोती कहते, तो भी माला बन जाती। तो माले के प्रसंग में वे श्रीराम के गुणों को धागा और कविता को मोती बताते हैं, लेकिन मानसरोवर के प्रसंग में भगवान के गुणों को मोती बताते हैं। भावुक कवि ने कितनी गहरी बात कही !

इस प्रसंग में भगवान राम के गुणों को मोती क्यों नहीं बनाया? मानसरोवर के प्रसंग में उनके गुणों को मोती इसलिये बनाया कि वहाँ मोती चुगना था और यहाँ कविता के प्रसंग में गुणों को मोती इसलिये नहीं बनाया, क्योंकि यहाँ माला बनाना है। माला बनाने के लिये मोती में छेद होना चाहिये। गोस्वामीजी को लगा कि हमारे प्रभु के गुणों में तो कोई छिद्र, कोई दोष है ही नहीं। तो फिर बिना छिद्र के माला कैसे बनेगी? अतः उन्होंने बड़ी मधुर बात कही – चलो, कविता में तो छिद्र है, जब आप धागे में मोती को पिरो देते हैं, तो छिद्र का भी उपयोग हो जाता है। कविता में तो व्यक्ति को कल्पना, युक्ति और चमत्कार का आश्रय लेकर ऐसी बात कहनी पड़ती है, जो सत्य की कसौटी पर खरी नहीं भी उतर सकती है। इसलिये कवि की बड़ी प्रशंसा तो की गयी है, पर उसकी निन्दा में भी वाक्य कहे गये हैं –

कवयः किं न वक्षन्ति किं न भक्षन्ति बायसाः।।

कवि लोग न जाने क्या-क्या बक देते हैं ! और उनकी कौवे से तुलना कर दी गई। काव्य में चमत्कार लाने के लिये उसमें युक्ति का प्रयोग करना ही पड़ता है और युक्ति वस्तुतः काव्य का सत्य नहीं, वरन् एक गुण है। गोस्वामीजी मानो यह बताना चाहते हैं कि 'हे संसार के कवियो, यदि आप अपनी कविता के द्वारा संसार के लोगों को रिझाने की चेष्टा करते हैं, तो आपका काव्य कोई अर्थ नहीं रखता।'

अकबर और बीरबल के विनोद के बहुत-से किस्से प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पढ़ या सुनकर व्यक्ति हँस पड़ता है। आप प्रवचनों में भी सुनते होंगे। वह भले ही सत्य न हो, भले ही कल्पना हो, पर चमत्कार तो है। कहते हैं कि बीरबल इतने बुद्धिमान और प्रतिभाशाली थे कि किसी भी तरह का जटिल से जटिल प्रश्न किया जाय, तो वे तत्काल उसका उत्तर दे देते थे।

एक बार किसी ने गोस्वामीजी से कहा कि अकबर की सभा के नवरत्नों में एक बीरबल हैं। वे बड़े प्रतिभाशाली हैं। उनसे जो भी प्रश्न किया जाय, उसका उत्तर वे तुरन्त दे देते हैं। ऐसी प्रतिभा, ऐसी मेधा किसी अन्य में दिखाई नहीं देती। गोस्वामीजी बोले – ठीक है, लेकिन कोई कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो, यदि उसने अपनी बुद्धि के द्वारा किसी सांसारिक बादशाह को रिझाने की चेष्टा की, तो उस बुद्धि का कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि यदि संसार के राजा को हँसाओ, तो वह प्रसन्न होकर संसार की कोई वस्तु दे देगा। और नाराज हो जाय तो फिर कहना ही क्या ! पुराने कवियों के प्रसंग में आता है कि राजा जब किसी बात पर रुष्ट हो जाता, तो क्षण भर में ही उसको मृत्यु दण्ड दे डालता। गंग कवि के विषय में प्रसिद्ध है कि अकबर ने उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचलवा दिया था। प्रसिद्ध उक्ति है – **बातन हाथी पाइये बातन हाथी लात।** सांसारिक व्यक्ति प्रसन्न हो जाय तो कुछ दे दे और अप्रसन्न हो जाय तो प्राण ही ले लेगा।

अतः हँसाना कोई कला है, तो ऐसी कोई बात की जाय, जिससे भगवान को हँसी आ जाय। यदि भगवान हँस पड़े, तो फिर कहना ही क्या। वे हँसेंगे, तो व्यक्ति के जीवन को आनन्द से भर देंगे और कदाचित् रुष्ट हो जायँ तो? किसी कवि ने कहा – तो भी कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं। विभीषण पर प्रसन्न हुए तो राज्य दे दिया और रावण पर रुष्ट हुये तो उसको अपना धाम दे दिया। कवि ने कहा – निःशंक होकर भजन करो, क्योंकि रीझने पर तो वे देते ही हैं, खीझने

पर भी देते हैं। दोनों ही स्थितियों में पाना-ही-पाना है –

खीझे पै मुकुती दई रीझे दीन्हें लंक ।
अंधाधुँध दरबार है तुलसी भजो निसंक ।।

अब केवट को ही देखिये ! उसकी जो वाकचातुरी है, उसने जो बातें कहीं, वह तो किसी भी राजा के हृदय में क्रोध उत्पन्न कर देगी। श्रीराम गंगा पार जाने के लिये तट पर खड़े हैं और केवट बड़ा ढीठ और असभ्य दिखाई देता है। यहाँ तक कि उसने उठकर प्रभु का स्वागत भी नहीं किया। और प्रभु ने जब पुकारकर उस केवट से कहा कि मेरे लिये नाव ले आओ, तो केवट बोला – नहीं लाऊँगा। और नहीं लाने के बाद जो-जो बातें उसने कहीं, वे तो और भी अमर्यादित थीं, अशिष्ट थीं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्तुति करते हुये कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी आपका मर्म नहीं जानते; फिर कौन दावा कर सकता है कि मैं आपका मर्म जानता हूँ –

जग देखन तुम देखन हारे ।
बिधि हरि संभु नचावन हारे ।।
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा ।
और कवन तोहि जाननि हारा ।।

सारे वेदों, शास्त्रों और मुनियों ने जिसका मर्म नहीं जाना, एक नाव चलानेवाला केवट बिना किसी संकोच के दावा कर देता है कि मैं आपका मर्म जानता हूँ –

कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ।।

और इतना ही नहीं, व्याख्या करने लगा – "सुना है कि आपके चरण कमलों में कोई ऐसी औषधि है, जो जड़ को भी चेतन बना देती है, नारी बना देती है।" इतना बड़ा चमत्कार जिसमें है, उसका तो व्यक्ति और भी अधिक सम्मान करेगा, पर उसने कहा – "मुझे यह आपका चमत्कार नहीं चाहिये। जब आप पत्थर को छूकर नारी बना सकते हैं, तो यह मेरी नाव तो काठ की है और पानी में रहते-रहते और भी कोमल हो गई है, तो ज्योंही इसका आपके चरणों की धूल से स्पर्श होगा, यह नारी बन जायेगी और मेरे लिये तो बड़ी विपत्ति हो जायेगी। कवितावली में गोस्वामीजी कहते हैं, केवट बोला – महाराज, मेरे लिये समस्या यह है कि उस नारी को देखकर मेरी पत्नी को क्रोध आ जायेगा कि यह किसको लिये चले आ रहे हो? तो उसको मैं कैसे समझाऊँगा? और हमें मुक्ति-उक्ति नहीं चाहिये, हम तो परिवार पालने वाले हैं, यदि आप मेरे नाव को नारी बना देंगे, तो मेरा परिवार भूखों मर जायेगा। इसलिये मैं आपका मर्म जानता हूँ और आपको अपने नाव में नहीं बिठाऊँगा –

परसें पगधूरि तरै तरनी,
घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू ।।
तुलसी अवलंबु न और कछू
लरिका केहि भाँति जियाइहौं जू ।।

इतना ही नहीं, उसकी बात बढ़ती ही चली जा रही है। कहने लगा – "यदि आप नाव से पार जाना चाहते हैं, तो चरणों की धूल के निवारण हेतु आपके चरणों को धोना होगा। पर धोने के पीछे भी मेरी एक शर्त है। आपको आवश्यकता हो, तो आप कहिये कि मेरा चरण धोओ। मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। ऋषि-मुनि माँगते होंगे कि महाराज, चरणों में भक्ति दीजिये, मुझे कोई भक्ति-वक्ति नहीं चाहिये –

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू ।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू ।। २/१००/८

इसके बाद तो उसकी ढिठाई की हद हो गई। बोला – "आपके चरणों को धोकर आपको नाव पर चढ़ा दूँगा, पर आप यह न सोचियेगा कि जब पहले ही यह इतनी झंझट कर रहा है, तो पार ले जाने के बाद न जाने क्या-क्या माँग कर बैठेगा !" बोला – उसके बाद कुछ नहीं चाहिये।

पद कमल धोइ चढ़ाव नाव न नाथ उतराई चहौं ।।

लक्ष्मणजी का क्रोध बढ़ता जा रहा था। ढिठाई की हद है। प्रभु खड़े हैं और यह बैठा हुआ है, दावा कर रहा है कि मैं आपका मर्म जानता हूँ। प्रभु से कह रहा है कि आप कहेंगे तो चरण धोऊँगा। लक्ष्मणजी के रोष की सीमा नहीं रही। यह चुनौती देने के बाद वह समझ गया कि लक्ष्मणजी को क्रोध आ रहा है, तो तुरन्त बोला – ये मेरे क्या कर लेंगे? भला लक्ष्मणजी से कोई ऐसा कह सकता है? जिन लक्ष्मण को क्रोध आने पर चारों दिशाएँ डोलने लगती हैं, सारे राजा सहम उठते हैं, उनसे कोई कहे कि क्या कर लेंगे?

लखन सकोप बचन जब बोले ।
डगमगानि महि दिग्गज डोले ।।
सकल लोक सब भूप डेराने ।

– "क्या कर लेंगे? धनुष पर बाण है, मार देंगे ! पर आप निश्चित समझ लीजिये कि मैं आपकी और आपके पिताजी की शपथ लेता हूँ कि मैं सच बोल रहा हूँ ...।" – अरे, शपथ लेना है, तो तुम अपना लो, अपने बेटे का लो, अपने परिवार का लो, यह कौन-सी शपथ हुई?

मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं ।।
बरु तीर मारहुँ लखन पै जब लगि न पायँ पखारिहौं ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं ।।
२/१००

इतनी ढिठाई का वाक्य था, पर इस कविता को सुनने के बाद प्रभु खूब हँसे। उन्हें लगा कि बहुत-से ऋषि-मुनियों ने कथा सुनाई, पर ऐसी कविता तो किसी ने नहीं सुनाई। अब तक तो सब यही कहते रहे कि आपका मर्म बुद्धि तथा वाणी से परे है, कोई नहीं जानता। चलो, एक व्यक्ति तो ऐसा मिला जो कहता है कि मैं भगवान के मर्म को जानता हूँ। प्रभु प्रसन्न हो गये। मेरे अवतार का रहस्य जितना इसने

जाना, उतना अन्य किसी ने नहीं जाना। भगवान के अवतार का मूल रहस्य क्या है? भगवान ने आकाशवाणी करते हुए कहा था – हे मुनियो, सिद्धो, देवताओ, अब तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं। देवगण, आप लोग निर्भय हो जाइये –

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ।
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई ।
निर्भय होहू देव समुदाई ।।

भगवान बोले – "देखो, मेरे कहने का असर केवट पर पड़ गया है, वह मुझसे डर नहीं रहा है। मैं सबको निडर बनाने के लिये ही तो आया हूँ। यह सचमुच ही मेरे मर्म को, मेरे रहस्य को समझ गया है। सचमुच, यह कितना निर्भय है। मेरा मर्म तो वस्तुत: उसी ने जाना है, जिसको साक्षात् काल का, कालरूप अनन्त भगवान का भी भय न रह गया हो और जिसके अन्त:करण में सचमुच कहीं भी कोई आतंक नहीं रह गया हो। कितना निर्भय है, कितना नि:संकोच है।"

वह कविता ऐसी थी कि उसमें श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी ने जरा भी आनन्द नहीं लिया, क्योंकि ऐसी कविता उन्होंने आज तक नहीं सुनी थी। जब महाराज जनक बोलते हैं –

मन समेत जेहि जान न बानी ।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।
महिमा निगम नेति कहि कहई ।
जो तिहुँ काल एक रस अहई ।।

जनकजी के लिये तो वे अगम्य हैं और यह केवट कहता है कि मैंने जान लिया है! लक्ष्मणजी को लगा कि यह क्या बोल रहा है? उन्होंने आनन्द नहीं लिया, थोड़ा रोष में आ गये, पर जब कह दिया कि क्या कर लेंगे, तीर मार देंगे, मुझे उसका भी डर नहीं है तो अब करते भी क्या! प्रभु ने जब देखा कि दोनों आनन्द नहीं ले रहे हैं, तो वे खूब हँसे और अकेले नहीं हँसे, बोले – क्या बात है, इतनी सुन्दर कविता सुनाई, तुम हँस ही नहीं रहे हो, गम्भीर बैठे हो? –

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन ।। २/१००

दोनों की ओर देखकर हँसते हैं। कितनी मीठी बात है! प्रभु ने तो ऐसा आनन्द लिया और लक्ष्मण से पूछा – तुम इतने रुष्ट क्यों दिख रहे हो? – प्रभो, आपने नाव लाने को कहा और उसने मना कर दिया। किशोरीजी ने कहा – आप खड़े थे और वह बैठा रहा। उसने आपकी बात नकार दी।

प्रभु बोले – इसमें दोष क्या है? – दोष नहीं, तो गुण है क्या? व्यापार में एक शब्द प्रचलित है। प्रात:काल दुकान में कोई ऐसा ग्राहक आवे और उस दिन अच्छी बिक्री न हो, तो कहते हैं कि उसके आने से बोहनी बिगड़ गई। भगवान ने कहा – "नकार का श्रीगणेश तो तुम्हीं दोनों ने किया। लक्ष्मण, मैंने तुमसे कहा, तुम घर में रुक जाओ, तुमने कहा 'नहीं'। सीते, मैंने तुमसे कहा – तुम घर में ही रहो, सास की सेवा करो, तुमने कहा – 'नहीं'। तुम दोनों ने 'नहीं' से प्रारम्भ किया, तो केवट ने तो यही सिद्ध किया कि वह तुम्हारा अनुयायी है। तुमने प्रेम से 'नहीं' कर दिया और उसने भी प्रेम से 'नहीं' कर दिया। मुझे केवल 'हाँ' में ही आनन्द नहीं आता, 'नहीं' में भी कितना आनन्द है! संसार के किसी व्यक्ति को हँसा देना, उससे क्या मिल जाता है? पर भगवान जब हँसे, तो उन्होंने क्या कुछ नहीं दे दिया! केवट की आकाँक्षा को पूर्ण करने के लिये प्रभु तुरन्त बोले – अच्छा भाई, वही कार्य करो जिसमें तुम्हारी नाव न जाय –

कृपासिंधु बोले मुसुकाई ।
सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई ।। २/२०१/१

फिर भी केवट ढिठाई से बैठा हुआ है। केवट को लगता है कि यह गोल-मोल भाषा तो कोई पण्डित ही समझेगा – वही करो जिसमें तुम्हारी नाव न जाय। मेरी नाव न जाने के तो कई उपाय हैं। आप मेरे नाव पर न चढ़े, तो भी मेरी नाव बची रहेगी। आप यहीं कुटिया बना लीजिये, तो भी मेरी नाव बची रहेगी। मैंने आपसे यह प्रस्ताव भी किया था कि यहाँ से मात्र थोड़ी ही दूरी पर कमर तक जल है। आप यदि सोचते हैं कि मैं चरण धोने के लिये बहाना बना रहा हूँ, तो यह भ्रम मत पालिये। मैं आपके चरण नहीं धोऊँगा। आपको गंगा पार करने में सहायक भी बनूँगा। – कैसे? बोले – महाराज, इस घाट पर तो जो मैं कहूँगा, वही करना होगा। पर इस घाट से थोड़ी दूर पर एक ऐसा स्थान है, जहाँ जल बहुत थोड़ा है। मैं आपके साथ चलूँगा। केवल कमर तक जल है। प्रभो, आप वहाँ से गंगा पार चले जाइयेगा। न चरण धुलाना पड़ेगा, न नाव में बैठना पड़ेगा –

एहि घाट तें थोरिक दूरि अहै,
कटि लौं जलु थाह देखइहौं जू ।।

कितना विलक्षण है! उसको डर नहीं लगा कि प्रभु कहीं कह दें – "ठीक है, चलो, दिखा दो वह स्थान।" पर केवट ने दावा किया था कि मैं आपका मर्म जानता हूँ, सचमुच ही वह मर्म जानता था, इसीलिये कहा – इस घाट को छोड़ दीजिये। – क्या मर्म था? बोले – प्रभु मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में घाट बनाने आये हैं, घाट कभी छोड़ेंगे नहीं। जो घाट की मर्यादा है, उसको संसार के समक्ष रखने के लिये ही तो आये हैं। केवट ने कह दिया – महाराज, छोड़ दीजिये न घाट। – कैसे छोड़ेंगे? नाव पर पार जाना है, तो केवट जैसा कहे, यात्री को वैसा ही करना होगा। भगवान ने अन्त में केवट से स्पष्ट कह दिया – देरी हो रही है, अब जल्दी से जल लाकर मेरे चरण धो दो और पार उतार दो –

बेगि आनि जल पाँय पखारू ।
होत बिलम्ब उतारहि पारू ।।

पार उतारने के बाद केवट ने पुन: दण्डवत किया। प्रभु कैसे अद्‌भुत हैं! उनके जैसा गुण अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता। संसार में यदि कोई व्यक्ति क्षमाशील हो, तो सोचता है कि मैं बड़ा उदार हूँ, दूसरों की भूल को क्षमा कर देता हूँ। यदि कोई व्यक्ति किसी को कुछ देता है, तो समझता है कि मैं बड़ा उदार हूँ कि इसने जितना परिश्रम किया, उसकी जितनी मजदूरी है, उससे अधिक दे रहा हूँ।

प्रत्येक गुणी को अपने किये गये कार्य में विशेषता दिखाई देती है, गुण दिखाई देता है। एकमात्र हमारे प्रभु ही ऐसे हैं जिन्हें महानतम कार्य करने के बाद भी संकोच ही होता है। कभी उन्हें इस बात का मान या अभिमान नहीं होता है कि मैंने कोई बहुत बड़ा काम किया है। जनकपुर जाते हुए उन्होंने अहल्या का उद्धार किया। जिस अहल्या को पतिता मानकर महर्षि गौतम ने परित्याग कर दिया था, जिसे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षियों ने भी छोड़ दिया था, सबने जिसे अपमान की दृष्टि से देखा था, उस पतिता को प्रभु ने अपने चरणों के धूल के स्पर्श द्वारा चैतन्य कर दिया, पवित्र बना दिया। वह धन्य हो गई। कितना बड़ा कार्य था! श्रीराम सोच सकते थे कि मैंने पतिता का उद्धार किया। इतने वर्षों से जो तिरष्कृता थी, उसको मैंने सम्मान दिलाया। विश्वामित्रजी आश्चर्यचकित थे। अहल्या स्तुति कर चुकी, महर्षि गौतम आये और अहल्या को लेकर चले गये।

इसके बाद ऐसा लगा कि प्रभु कुछ संकोच में हैं। कुछ खिन्न से लगे। विश्वामित्र ने पूछा – बात क्या है? वे बोले – गुरुदेव, यदि अनजाने में कोई पाप हो जाय, तो कोई सरल प्रायश्चित्त है? विश्वामित्र ने पूछा – तुमसे और पाप? कौन-सा पाप किया है तुमने, मैंने तो नहीं देखा! बोले – एक ऋषि-पत्नी को मैंने अपने चरण से छू दिया, इससे बड़ा अपराध और क्या होगा? इसका प्रायश्चित्त क्या है? विश्वामित्रजी ने बड़ा विनोदी प्रायश्चित्त बताया, बोले – बड़ा सरल उपाय है। सामने गंगा बह रही हैं। गंगा में स्नान करने से पाप मिट जाता है। और बोले – तुम्हें यही बड़ा संकोच लग रहा है न कि मैंने अहल्या के सिर में चरणधूलि डाल दी? तो अपने सिर पर भी गंगाजी का जल डाल लो। वह भी तो तुम्हारे चरणों से ही निकली है न! और भगवान राम ने प्रायश्चित्त किया। विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं –

सिला साप संताप सुगति
दइ परसत पाव पाउँ।
दई सुगति सुनि सो न हरषि हिय
चरन छुये को पछिताउ ।।

ऐसा उनका स्वभाव है! एक पतिता का उद्धार करके वे स्वयं को उद्धारक नहीं, अपने आप में ही कमी देखते हैं। जिन प्रभु के चरणों को पाने के लिये न जाने कितने मुनि साधना और तपस्या करते हैं, उन प्रभु ने आग्रहपूर्वक केवट से चरण धुलवाया और पार उतरने के बाद केवट ने नाव से उतरकर जब प्रणाम किया, तो संकोच में पड़ गये। इसने नाव से पार उतार दिया, प्रणाम कर रहा है। काम करने के बाद कोई प्रणाम करे तो उसकी पारिश्रमिक देना चाहिये। मैं क्या करूँ? मेरे पास तो देने योग्य कुछ नहीं है –

केवट उतरि दंडवत कीन्हा।
प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा ।। २/१०२/२

इस संकोच की आप कल्पना कीजिये। यही श्रीराम का शील है, संकोच है। बड़ा विलक्षण है। गुणों के साथ शील भी होना चाहिये। धर्मरथ के प्रसंग में जिस तत्त्व का निरूपण किया गया है, उस पर आप गहराई से दृष्टि डालें। धर्मरथ में गुणों का निरूपण है। धर्मरथ अर्थात् जैसे रथ में पहिये हैं, घोड़े हैं, लगाम है और भी अनेक वस्तुओं से मिलकर ही तो रथ बनता है। भगवान कहते हैं कि जो व्यक्ति इस दुर्जेय संसार-शत्रु को जीतना चाहता है, उसको युद्ध में विजय पाने के लिये धर्मरथ की आवश्यकता है। शौर्य और धैर्य – ये ही उस रथ के दो पहिये हैं –

सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।।

उसके बाद अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। पर उन गुणों के साथ-साथ एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। प्राचीन काल में योद्धाओं का परिचय कैसे दिया जाता था? हजारों योद्धा हैं, सभी रथ पर बैठे हुए हैं। अब रथ पर बैठे हुये योद्धाओं की पहचान कैसे हो कि कौन योद्धा कहाँ है? अत: उन दिनों हर राजा के रथ के छत्र पर एक चिह्न होता था और उसी के द्वारा ही पहचान लिया जाता था। अर्जुन के विषय में आपने सुना होगा, भगवान श्रीकृष्ण ने हनुमानजी से अनुरोध किया था कि तुम अर्जुन के रथ पर विराजमान रहो। इसलिये जिस रथ की ध्वजा पर हनुमानजी विराजमान हैं, वह अर्जुन का रथ था, उन्हें लोग कपिध्वज के रूप में जानते थे। इसी प्रकार भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि के रथों के भिन्न-भिन्न चिह्न थे। रामायण में लिखा है – कामदेव के रथ पर मछली का चिह्न बना रहता है। इन चिह्नों का अलग-अलग अर्थ है। पर जो व्यक्ति दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करने के लिये जीवन में सदगुणों के रथ पर बैठा हुआ है, उसकी ध्वजा और पताका क्या है? वह सूत्र आपको मिलेगा, जब भगवान राम विभीषण से कहते हैं – इस धर्म पर आरूढ़ व्यक्ति के रथ पर सत्य की ध्वजा और शील की पताका होनी चाहिये –

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।

बड़े महत्त्व का सूत्र है। ध्वजा छोटी होती है और पताका बड़ी। समरांगण का इसी रूप में वर्णन हुआ है। अरण्य-काण्ड में भगवान राम कहते हैं – केला कामदेव के रथ की ध्वजा है और ताड़ उसकी पताका है –

कदलि ताल बर ध्वजा पताका ।

उसका सांकेतिक तात्पर्य और कुछ रहस्य है। सौन्दर्य-शास्त्र में जन्घे की तुलना बहुधा केले से की जाती है और ताड़ में जो रस – 'ताड़ी' होता है, वह नशा उत्पन्न करने वाला है। भगवान कहते हैं कि काम जब युद्ध करने चलता है, तो कदली मानो उसकी ध्वजा है और ताड़ मानो उसकी पताका है। सौन्दर्य के द्वारा उन्माद उत्पन्न करना ही काम का सबसे बड़ा चिह्न है। भगवान राम कहते हैं कि धर्म के रथ पर यदि कोई बैठा हुआ है, तो उसके दो ही सर्वश्रेष्ठ चिह्न हैं – सत्य की ध्वजा और शील की पताका।

इसका क्या तात्पर्य है? इसमें शील को सत्य से भी ऊँचा स्थान दिया गया। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी सत्य के नाम पर अभिमान ही प्रदर्शित होता है। व्यक्ति जिसको सत्य कहकर घोषित करता है – 'मैं सत्य कह रहा हूँ', 'यह सत्य है, बिल्कुल सत्य है' – यह वस्तुत: सामनेवाले को अपमानित करने के लिये, निन्दा करने के लिये अभिमान की एक वृत्ति है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति स्वयं में गुणों का अनुभव करता हुआ कहे – 'मैं ऐसा हूँ, ऐसा हूँ, मैंने ऐसा किया, ऐसा किया' – तो कहने को तो कह सकता है कि वह सच बोल रहा है, परन्तु सत्य के नाम पर वस्तुत: उसका अभिमान बोल रहा है। धर्म के गहन तत्त्व को समझ पाना बड़ा ही कठिन है। व्यक्ति कड़वा बोलता है और सबसे बड़ा शस्त्र उसका वही है – भई, **स्पष्टभाषी न वंचकः** – मैं तो स्पष्टभाषी हूँ, ठग नहीं हूँ। तो क्या जो स्पष्ट नहीं बोलते, वे सब ठग ही होते हैं? और आपका स्पष्ट भाषण दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर क्या सत्य की महत्ता को प्रगट करता है?

यह शील ही भगवान श्रीराम के चरित्र का महानतम तत्त्व है और संसार के मनुष्यों के लिये भी सबसे महत्त्व का सूत्र है। सत्यवादी संकोची नहीं होता और जो शीलवान होगा, वह संकोची अवश्य होगा। जिसमें संकोच नहीं है, वह व्यक्ति नि:शील है। व्यक्ति जब अपने में गुण देखेगा, तो उसे अभिमान होगा कि 'मैं धर्मात्मा हूँ', 'मैं गुणवान हूँ'। वह सत्य अहं से जुड़ा हुआ है और शील लोक-कल्याण और उस भावना से जुड़ा हुआ है, जिसमें व्यक्ति को निरन्तर दूसरों की भावना का ध्यान बना रहता है। **सत्यवादी को केवल अपनी ही चिन्ता है, शीलवान को सदा दूसरों की चिन्ता है ।** शील ही ऐसा है कि जिसमें व्यक्ति को अपने आप में विशेषता नहीं दिखाई देती है। वह जब भी बोलेगा, व्यवहार करेगा, तो सर्वदा दूसरों की भावना को लेकर ही करेगा, दूसरों के हृदय को चोट न पहुँचे, यह उसका भाव होगा। इसका एक सूत्र आपके सामने बताना आवश्यक है कि भगवान राम के चरित्र का भी जो सर्वोत्तम पक्ष है वह क्या है? श्रीराम सत्यनिष्ठ हैं या नहीं? उनके बारे में प्रसिद्ध है कि उनके मुख से एक बार जो बात निकलती है, वह अकाट्य होती है, वह सत्य होती है – **रामो द्विर्नैव भाषते** – भगवान राम दो बार नहीं बोलते। एक बार जो कह दिया उसे बदलकर दूसरी बार नहीं कहते। केवल सत्य ही बोलते हैं। उनके शब्द अटल होते हैं। पर आप बार-बार यह अनुभव करेंगे कि भगवान श्रीराम के चरित्र में सत्य की वह व्याख्या नहीं है, जिसका प्रयोग करते हुए हम और आप स्वयं को बड़ा गर्वान्वित और गौरवान्वित अनुभव करते हैं – हम सत्यवादी हैं, हम स्पष्ट बोलते हैं।

श्रीराम ने कभी ऐसे गौरव के अभिमान का बोध नहीं किया। उनके चरित्र का जो शील तत्त्व है, उसकी जो अभिव्यक्ति है, उनके संकोच के माध्यम से ही प्रगट होती है। परशुरामजी का भी श्रीराम से जो वार्तालाप हुआ, उन्होंने श्रीराम से जो बातें कहीं, भगवान यदि चाहते, तो वे भी अपनी बातें कटुतम रूप में रख सकते थे। अन्यत्र – वाल्मीकि रामायण में ऐसा वर्णन आता है कि परशुरामजी का आगमन धनुष टूटने के बाद नहीं हुआ था, बल्कि जब महाराज दशरथ श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुध्न के विवाह हो जाने के बाद बारात लेकर अयोध्या लौट रहे थे, तब मार्ग में परशुरामजी मिलते हैं और श्रीराम को चुनौती देते हैं। श्रीराम-चरित-मानस में भी है, श्रीराम को चुनौती देने के बाद परशुरामजी उनसे कहते हैं कि मेरे पास जो धनुष है, इसे तुम चढ़ाकर दिखाओ। यहाँ पर वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस में एक अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में भगवान राम उस धनुष को लेते हैं और उस पर बाण चढ़ाते हैं और कहते हैं कि मेरा बाण तो व्यर्थ नहीं जाता, आपने कहा – धनुष पर बाण चढ़ाइये और मैंने चढ़ा दिया, अब आप बताइये – इस बाण का प्रयोग मैं किस पर करूँ? इसका एक उत्तर तो यही होता कि आपने बाण चढ़वाया, तो क्या आप पर प्रहार किया जाय ! पर भगवान कहते हैं – बाण तो व्यर्थ नहीं जायेगा, आप बताइये कि मैं किस पर प्रहार करूँ? वाल्मीकि रामायण में है – इस पर परशुरामजी बोले – मेरी जो लोक-लोकान्तर की गति है, पुण्य है, उसे तुम इस बाण के द्वारा समाप्त कर दो और अब मैं तपस्या के लिये जाऊँगा। इसके बाद भगवान उस बाण के प्रहार से उनकी दिव्य लोक की गति को समाप्त कर देते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १९६ –
मैं का विस्तार

शंकराचार्य का एक शिष्य था। वह कई दिनों से उनकी सेवा कर रहा था, परन्तु आचार्य ने अब तक उसे एक भी उपदेश नहीं दिया था। एक दिन आचार्य अपने आसन पर बैठे हुए थे, उसी समय किसी के आने की आहट हुई।

आचार्य ने पूछा – "कौन है?"

शिष्य बोला – "मैं।"

तब आचार्य बोले – "यदि यह 'मैं' तुझे इतना ही प्रिय है, तो उसे अनन्त तक बढ़ा ले (अर्थात् सोच कि मैं ही सर्वव्यापी ब्रह्म हूँ), या फिर उसे पूरी तौर से त्याग दे।"

– १९७ –
ईश्वर से प्रार्थना

अहल्या के शापमोचन के बाद श्रीराम ने उनसे कहा – "तुम मुझसे कोई वर माँग लो।" अहल्या ने कहा – "राम, यदि वर ही देना है, तो मुझे यही वर दो कि मेरा जन्म चाहे शूकर-योनि में भी क्यों न हो, तो भी मेरा मन सर्वदा तुम्हारे चरण-कमलों में ही लगा रहे।"

ईश्वर से प्रार्थना करते समय, केवल उनके पादपद्मों में भक्ति के लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "मैंने जगदम्बा से केवल भक्ति के लिये ही प्रार्थना की थी। माँ के चरण-कमलों में फूल चढ़ाने के बाद मैंने हाथ जोड़कर कहा था, 'माँ, यह लो अपना ज्ञान और यह लो अज्ञान, मुझे शुद्ध भक्ति दो। यह लो अपनी शुचिता और यह लो अपनी अशुचिता, मुझे शुद्ध भक्ति दो। यह लो अपना पाप और यह लो अपना पुण्य, मुझे शुद्ध भक्ति दो। यह लो अपना भला और यह लो अपना बुरा, मुझे शुद्ध भक्ति दो। यह लो अपना धर्म और यह लो अपना अधर्म, मुझे शुद्ध भक्ति दो।'

– १९८ –
प्रारब्ध से मुक्ति

किसी ने पूछा – पिछले जन्मों के कर्मफल – प्रारब्ध से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

श्रीरामकृष्ण बोले – कुछ कर्मभोग होता तो है, पर उनके नाम के गुण से बहुत-सा कर्मपाश कट जाता है। एक व्यक्ति को पिछले जन्मों के कर्मों के लिए सात बार अन्धा होना था, परन्तु उसने गंगास्नान किया। गंगास्नान से मुक्ति होती है। इसलिए उस जन्म में तो वह जैसा अन्धा था, वैसा ही बना रहा, परन्तु अगले छ: जन्मों के लिए न तो उसे जन्म लेना पड़ा और न अन्धा ही होना पड़ा।

– १९९ –
अभ्यास योग

किसी ने कहा – गृहस्थी करते हुए ईश्वर में मन लगाना बड़ा कठिन है। क्या इसका कोई उपाय है?

श्रीरामकृष्ण ने कहा – अवश्य है। अभ्यास-योग – निरन्तर अभ्यास के द्वारा हो सकता है। उस अंचल (कामारपुकुर) में बढ़ई की औरतें चिउड़ा बेचती हैं। वे अपना काम करते समय कितनी ही ओर ध्यान देती हैं! एक तो ढेंकी चल रही है, उसमें वह हाथ से धान सरका रही है और दूसरे हाथ से बच्चे को गोद में लेकर दूध पिला रही है। साथ ही जो ग्राहक आते हैं, उनके साथ मोल-भाव भी कर रही है। ग्राहक से कहती है, "तुम्हारे ऊपर इतने रुपये बाकी हैं, पहले उन्हें दे जाना, उसके बाद और धान ले जाना।"

ढेंकी चल रही है, उसमें धान खिसकाना और कूटे हुए धान निकालना, लड़के को दूध पिलाना और ग्राहक के साथ बातचीत करना – ये सारे काम वह एक साथ ही कर रही है। इसी को अभ्यास-योग कहते हैं। उसका पन्द्रह आने मन ढेंकी पर लगा हुआ है कि कहीं ढेंकी हाथ पर न गिर जाय; बाकी एक आने मन का उपयोग वह लड़के को दूध पिलाने और खरीदार से बातचीत करने में लगाती है।

इसी प्रकार संसार में रहनेवालों को पन्द्रह आने मन ईश्वर में लगाना चाहिए। न देने से हानि होगी – काल के हाथों पड़ना होगा। बाकी एक आने मन से दुनिया के काम करो।

– २०० –
ईश्वर वहाँ नहीं, यहाँ हैं

जब तक यह बोध है कि ईश्वर वहाँ है, तब तक अज्ञान है; और जब बोध हो जाता है कि ईश्वर यहाँ है, तब ज्ञान है।

एक पक्षी अनमना-सा एक जहाज के मस्तूल पर बैठा हुआ था। जहाज गंगागर्भ में था। बाद में धीरे-धीरे चलते हुए जब वह महा-समुद्र में पहुँच गया, तब पक्षी को होश आया। उसने चारों ओर देखा – पर कहीं भी कूल-किनारा दिखायी नहीं पड़ता था।

किनारे की खोज करने के लिए पहले वह उत्तर की ओर उड़ा। बहुत दूर तक उड़कर वह थक गया, तो भी किनारा उसे नहीं मिला। अब वह क्या करे। लौटकर फिर मस्तूल पर आ बैठा। थोड़ी देर बाद वह पक्षी फिर उड़ा, इस बार पूर्व की ओर गया। उस तरफ भी उसे कहीं छोर न मिला। चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र था। वह बहुत थककर फिर जहाज के मस्तूल पर आ बैठा। कुछ देर विश्राम करने के बाद वह दक्षिण की ओर गया और पश्चिम की ओर भी हो आया। परन्तु कहीं भी उसे ओर-छोर नहीं दिखा। चारों ओर से निराश होकर अन्त में वह उसी मस्तूल पर बैठ गया। इसके बाद फिर नहीं उड़ा। अब उसके मन में किसी प्रकार की चंचलता या अशान्ति नहीं रही। फिर कोई चेष्टा भी नहीं रही। निश्चिन्त होकर मस्तूल पर ही बैठा रहा कि अब वहीं जायेंगे, जहाँ जहाज ले जायेगा!''

इस कथा के मर्मरूप में श्रीरामकृष्ण कहते हैं – संसारी लोग सुख के लिए चारों ओर भटके फिरते हैं और सुख न मिलने पर अन्त में थक जाते हैं। कामिनी और कांचन में आसक्त होकर जब केवल दु:ख-ही-दु:ख उनके हाथ लगता है, तभी उन्हें वैराग्य होता है, त्याग का भाव आता है। अधिकांश लोग बिना भोग किये त्याग नहीं कर सकते।

साधक दो प्रकार के होते हैं – कुटीचक और बहूदक। अधिकांश ऐसे हैं, जो अनेक तीर्थों की यात्रा किया करते हैं। एक जगह पर स्थिर होकर नहीं बैठ सकते। बहुत-से तीर्थों का उदक अर्थात् पानी पीते हैं। जब घूमते हुए उनका क्षोभ मिट जाता है, तब किसी एक जगह कुटी बनाकर स्थिर हो जाते हैं और निश्चिन्त तथा चेष्टाशून्य होकर परमात्मा का चिन्तन किया करते हैं।

– २०१ –

तेरा साईं तुज्झ में

एक आदमी तम्बाकू को पीने की तलब लगी। तम्बाकू की टिकिया सुलगाने हेतु आग की जरूरत थी। वह अपने पड़ोसी के घर गया। घर के सब लोग सो गये थे। बड़ी देर तक द्वार खटखटाने के बाद एक व्यक्ति उसे खोलने को नीचे उतरा। उस आदमी को देखकर घरवाले ने पूछा –''कहो, इतनी रात गये कैसे आये?'' वह बोला – ''क्या कहूँ! तुम तो जानते हो कि मुझे हुक्का पीने का चस्का है, टिकिया सुलगाने आया था।'' तब घरवाले ने कहा – ''अजी वाह, तुम तो बड़े भलेमानुस निकले, इतनी मेहनत करके आये और द्वार खटखटाया, तुम्हारे हाथ में ही तो लालटेन है!''

ईश्वर व्यक्ति के पास ही है, तो भी उसे पाने के लिये वह जगह-जगह चक्कर लगाता है। जब तक यह बोध है कि ईश्वर वहाँ है, वहाँ है, तब तक उसमें अज्ञान है। जब बोध हो जाय कि ईश्वर यहाँ है, यहाँ है, तब समझो ज्ञान हुआ है।

– २०२ –

शास्त्रों का मर्म जान लो

पुस्तक और शास्त्र – ये सब ईश्वर के पास पहुँचने का केवल मार्ग ही बताते हैं। मार्ग या उपाय समझ लेने के बाद पुस्तकों और शास्त्रों की क्या जरूरत है? तब उस उपाय के अनुसार काम में लग जाना चाहिए।

एक व्यक्ति को एक पत्र मिला। उसके किसी सम्बन्धी ने उसे कुछ चीजें भेजने को लिखा था। वह उस पत्र को कहीं रखकर भूल गया। जब चीजों को खरीदने का समय आया, तब उस पत्र की तलाश की गयी, पर वह नहीं मिल रही थी। मकान-मालिक बड़ी चिन्ता के साथ उसे खोजने लगे। कई लोगों ने मिलकर बड़ी देर तक उसे खोजा। अन्त में पत्र मिल जाने पर उसे बड़ा आनन्द हुआ। मालिक ने बड़ी उत्सुकता के साथ पत्र को अपने हाथ में ले लिया और उसमें लिखा हुआ सन्देश पढ़ने लगा। लिखा था – पाँच सेर मिठाइयाँ, एक धोती तथा कुछ अन्य चीजें भेज दीजियेगा। एक बार पढ़ लेने के बाद पत्र की कोई आवश्यकता नहीं रही। वह पत्र को फेंककर मिठाइयाँ, कपड़े तथा अन्य चीजों की व्यवस्था करने चल दिया। पत्र की जरूरत तभी तक थी, जब तक मिठाइयाँ, कपड़े आदि के विषय में ज्ञान नहीं हुआ था। इसके बाद उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा हुई।

शास्त्रों में तो उनके पाने के उपायों की ही बातें मिलेंगी। परन्तु जानकारी लेकर काम करना चाहिए। तभी तो वस्तु-लाभ होगा। डुबकी लगाना चाहिये। ऊपर ऊपर तैरने से रत्न नहीं मिलते। ईश्वर निराकार हैं तथा साकार भी; साकार का चिन्तन करने से शीघ्र भक्ति प्राप्त होती है। तब फिर निराकार का चिन्तन किया जा सकता है।

शास्त्रों को पढ़ने की अपेक्षा सुनना अच्छा है, सुनने से देखना अच्छा है। गुरु-मुख से या साधु के मुख से सुनने पर धारणा अच्छी होती है, क्योंकि फिर शास्त्रों के असार-भाग के सोचने की जरूरत नहीं रहती।

❖ (क्रमशः) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (१३)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपनी १० वर्षों की जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अब तक तीन महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर चर्चा हो चुकी है। पहली थी – परम प्रेम की परिभाषा। शुरू के छह सूत्रों में परम भक्ति का अर्थ बताया गया। अगले आठ सूत्र भक्ति पाने के लिये सर्वस्व-त्याग विषयक थे। उसके बाद के दस सूत्रों में परम भक्ति की विभिन्न व्याख्याएँ व दृष्टान्त थे। इस प्रकार अब तक हम भक्ति की परिभाषा और उसकी प्रमुख विशेषताओं का निरूपण करनेवाले चौबीस सूत्रों पर चर्चा कर चुके हैं।

अब हम चौथे प्रसंग पर आते हैं। इसमें ईश्वर-प्राप्ति के अन्य मार्गों के साथ भक्ति की तुलना है। भक्तिमार्ग कर्म, ज्ञान तथा योग के मार्गों से बढ़कर है। पच्चीसवें सूत्र में संक्षेप में इसका कारण कहा गया है। भक्ति केवल एक मार्ग नहीं, बल्कि लक्ष्य भी है। भक्ति को साध्य और साधन दोनों ही माना जाता है। जब हम प्रारम्भिक साधक के रूप में भक्ति की साधना शुरू करते हैं, तब वह एक मार्ग होती है और इस मार्ग द्वारा अन्ततोगत्वा हम जिस लक्ष्य पर पहुँचते हैं, वह भी भक्ति ही है। श्रीरामकृष्ण इन्हें वैधी और रागा भक्ति कहते हैं। शास्त्रों के विधान के अनुसार या पन्थ के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट भक्ति वैधी भक्ति है और फल या लक्ष्य रूपी, परम प्रेम के स्वरूप वाली जो भक्ति है, वह प्रेमा भक्ति है। प्रारम्भ में यह साधना रहती है, किन्तु अन्त में यही चरम अनुभूति हो जाती है। भक्ति ही मार्ग और भक्ति ही लक्ष्य – दोनों हैं। भक्ति क्या कर्मफल के स्वरूप वाली होती है? इसका विशेष लक्षण बताया गया है कि यह फल या परिणाम नहीं, बल्कि फल के स्वरूप वाली होती है। ऐसा इसलिये है कि यह उत्पन्न होनेवाली वस्तु नहीं, अपितु हमारी सत्ता का सार-स्वरूप है। किसी साधन से प्राप्त होनेवाली किसी भी वस्तु का कभी-न-कभी खोना अनिवार्य है। जो वस्तु स्थायी नहीं है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है; यह सामान्य नियम है। उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु नष्ट होगी ही। परन्तु भक्ति का ऐसा स्वभाव नहीं होता। इसीलिये भक्ति को हमारे कर्मों का फल या परिणाम नहीं कहा गया, बल्कि हमारे कर्म-फलों, उन साधनाओं के फलों के समान है, जिन्हें हम लक्ष्य-प्राप्ति के लिये करते हैं। इसलिये आचार्यगण कहते हैं कि भक्ति स्वयं ही फल या लक्ष्य है। यह कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, यह पहले से ही है। यह ईश्वर-प्रेम या भक्ति हमारे भीतर निहित है; सनातन है। हम अपनी साधनाओं द्वारा केवल इसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं।

जैसे ईश्वर शाश्वत हैं, वैसे ही ईश्वर-प्रेम भी शाश्वत है; पर हम उससे अनभिज्ञ हैं, क्योंकि हमें इसकी अनुभूति नहीं हुई है। अत: विभिन्न साधनाओं द्वारा सम्पन्न होनेवाली मन की पवित्रता के माध्यम से हम उन अपूर्णताओं, उन अशुद्धियों को दूर करते हैं, जो हमारे भीतर निहित भक्ति को आवृत्त किये हैं। चित्तशुद्धि होते ही भक्ति प्रकट हो जाती है। भक्ति यदि हमारी साधना से उत्पन्न होनेवाली कोई वस्तु होती, तो कभी-न-कभी उसका लुप्त हो जाना अनिवार्य है। इसलिये हम इस ईश्वर-प्रेम को किसी समय पर प्राप्त हुई वस्तु नहीं मानते। यह हमारे भीतर सर्वदा निहित है, बस अन्य चीजों ने हम पर पहले से अधिकार कर रखा है, इसीलिये हम अपने भीतर इस ईश्वर-प्रेम से अवगत नहीं हैं। अत: भक्ति को फल नहीं, बल्कि फल के स्वरूप वाली कहा गया है। **फल-रूपत्वात्** – सूत्र का निहितार्थ यही है।

कर्म, ज्ञान और योग के विभिन्न मार्ग अपना निश्चित फल देते हैं। वस्तुत: भक्त के दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता है। क्योंकि ज्ञानमार्ग भी ऐसा ही दावा करता है। जिस ज्ञान को प्राप्त करने की हम आकांक्षा रखते हैं, वह ज्ञान-मार्ग की साधना के फलस्वरूप प्राप्त होता है। विभिन्न साधनाओं के माध्यम से हम अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं और जब वह स्वरूप प्रकट हो जाता है, तो हमें अपनी यथार्थ आत्मा की अनुभूति होती है। किन्तु ज्ञान फल के तौर पर प्राप्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो किसी विशेष समय पर उत्पन्न या प्रकट होती हो। हम अपनी साधना के द्वारा जिस ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वह हमारे भीतर निहित है;

उस ज्ञान को आवृत करनेवाले अवरोधों को दूर करते ही वह प्रकट हो जाता है, अत: ज्ञान को भी मार्ग और फल – दोनों माना जाता है। दूसरे शब्दों में, सच्चा ज्ञान कभी फल या परिणाम नहीं होता, बल्कि वह वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति मात्र होता है। हम जानते हैं कि आत्मज्ञान शाश्वत है, अत: अनुभूति की इस अवस्था के कभी भी विलुप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है। यह ज्ञान स्वयं में परम सत्य है। यह किसी वस्तु का ज्ञान नहीं, बल्कि साक्षात् ज्ञान ही है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति भक्ति के द्वारा भी ज्ञानमार्ग के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानमार्ग से भिन्न जो कर्ममार्ग है, भक्ति उससे उत्कृष्ट है। कर्ममार्ग उस फल की प्राप्ति कराता है, जिसमें सभी अपूर्णताएँ दूर हो जाती हैं। कर्म स्वयं में अपूर्ण या पूर्ण नहीं है। यह ऐसा कुछ है, जिसकी हम सहायता लेते है। नि:स्वार्थ भाव से किये गये कर्मों की साधना द्वारा हम सभी अशुद्धियों से मुक्त परम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और उस सर्वोच्च भूमि पर पहुँच जाते हैं, जो ज्ञानमार्गी साधक का भी लक्ष्य है। तात्पर्य यह कि यदि हम अपने बन्धनों को दूर करें, तो हम स्वत: मुक्त हो जाते हैं। कर्म स्वयं में मुक्ति नहीं है, बल्कि मुक्ति उसका फल है। कर्म वह कारण है, जिसके द्वारा फल की प्राप्ति होती है। पर भक्ति का इस तरह उपयोग नहीं होता। भक्ति मार्ग भी है और लक्ष्य भी। श्रीरामकृष्ण बारम्बार भक्ति-मार्ग को कर्ममार्ग से उत्कृष्ट बताते हुए कहते हैं – "कलि में नारदीय भक्ति चाहिए। कर्मयोग बड़ा कठिन है।"[१]

योगमार्ग है, जिसमें इन्द्रियों को नियंत्रित तथा मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है। इसमें भी ये क्रियाएँ स्वयं में लक्ष्य नहीं हैं। भक्ति की तुलना में योगमार्ग निश्चय ही हीनतर होगा, क्योंकि यह केवल कुछ दूर तक ही जा सकता है। योग द्वारा वांछित फल प्रकट हो जाने के बाद योगमार्ग आगे नहीं जा सकता। तब यह केवल एक मार्ग मात्र रह जाता है। अत: भक्ति निश्चित रूप से उससे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक की सभी स्थितियाँ समाहित हैं। इसीलिये कहते हैं कि यह कर्मयोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग से भी उत्कृष्ट है। दुर्भाग्यवश भक्त की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ केवल ज्ञान-साधना होती है, न कि ज्ञानोपलब्धि। हम साधना तथा उसके परम लक्ष्य के बीच भेद करते हैं। पर ज्ञानमार्गी को यह स्वीकार्य नहीं होता। इस पर चर्चा करके हम उस भेद को महत्त्व नहीं देना चाहते, तो भी आइये देखें कि भक्त ज्ञानमार्ग को किस रूप में देखता है। उसके अनुसार ज्ञानमार्ग में विवेक का आश्रय लेना पड़ता है, जो उसे उसी में सीमाबद्ध कर देता है। नित्य और अनित्य के बीच विवेक करना एक चेष्टा है। चेष्टा के द्वारा साधक नित्य तक पहुँचता है और फिर अनित्य को त्याग देता है। यह मोक्ष की स्थिति है। निश्चित रूप से विवेक के अभ्यास की अवस्था, विवेक की फल-प्राप्ति की अवस्था से बिल्कुल भिन्न होती है। उसी दृष्टि से भक्त कहता है कि ज्ञान भक्तिमार्ग से छोटा है, क्योंकि भक्तिमार्ग प्रारम्भ से ही हमें परम लक्ष्य की ओर ले जाता है। भक्ति शब्द में मार्ग और लक्ष्य दोनों संयुक्त हैं। सम्भव है कि शुरू में भक्ति उतनी प्रमुख, नि:स्वार्थपूर्ण और पवित्र न हो, परन्तु जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, क्रमश: अपूर्णतायें चली जाती हैं, तीव्रता बढ़ती है और भक्ति की मात्रा तथा गुणवत्ता बढ़ती जाती है। अन्तत: जब आगे बढ़ने को कोई पथ नहीं बचता, तब हम लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। और प्रारम्भ से अन्त तक वही भक्ति विद्यमान रहती है।

श्रीरामकृष्ण इसे एक भिन्न ढंग से बताते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानमार्ग कुछ स्थितियों को नहीं मानता जबकि भक्त किसी चीज को अस्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं – "परमहंस देखता है, यह सब उनकी माया का ऐश्वर्य है।"[२] किन्तु भक्त संसार को मिथ्या नहीं मानता।

संसार को मिथ्या कहकर त्याग नहीं करना है, बल्कि इसे परब्रह्म की लीला की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करना होगा। अब इस अवस्था की तुलना ज्ञानी की अवस्था से करें। ज्ञानमार्गी साधक के अनुसार संसार के परे तक पहुँचने के लिये जगत् को मिथ्या या भ्रम मानना पड़ता है। भक्त की दृष्टि जगत् को मिथ्या कहना परम सत्ता के एक अंश को मिथ्या कहना हुआ। वे बेल के फल का उदाहरण देते हैं, जिसमें खोपड़ा, बीज और गूदा आदि सब कुछ होता है। यदि आप बेल के इन अंगों में से किसी एक को भी नहीं मानते तो क्या वह पूरा फल हुआ? यदि आप कहें कि खोपड़ा नहीं, बीज नहीं, बल्कि केवल गूदा ही फल है; तो आप फल के उन मूल अंगों को नकार रहे हैं, जिनसे वह फल बना है। अत: विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार कुछ भी नकारने से फल का कुछ अंश छूट जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यदि आप बेल का सही वजन जानना चाहते हैं; तो गूदा, बीज, खोपड़ा सब कुछ तौलना होगा। परन्तु ज्ञानी अपने विवेक-विचार के समय अनावश्यक चीजों को अस्वीकार करते हुए कहता है कि गूदा ही मुख्य वस्तु है। इसी प्रकार विवेक-विचार करते हुए उसे क्रमश: परम तत्व की तरह बढ़ना पड़ता है। भक्त कहता है – "वह मेरा पथ नहीं है, मैं सब कुछ ईश्वर की लीला के रूप में ग्रहण करता हूँ, इसलिये मैं सब कुछ मानता हूँ। मेरे ईश्वर सबकी समष्टि हैं, सब कुछ मेरे ईश्वर ही हैं। मेरा मार्ग मुझे उन ईश्वर की ओर ले जाता है, जो अपनी लीला के रूप में यह संसार ही बन गये हैं।"

इस विचारधारा और एक ज्ञानी की विचारधारा में क्या

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, सं. १९९९, खण्ड १, पृ. ६७७

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, खण्ड १, पृ. २४४

भेद है? ज्ञानी प्रारम्भ में विवेक-विचार द्वारा संसार को मिथ्या मानता है। अन्ततोगत्वा, परम सत्य की अनुभूति हो जाने पर वह क्या कहता है? कहता है कि परम सत्य ही शेष बचता है और इन सभी गुणों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। अत: इन्हें अनित्य कहा जाता है। अनित्य वस्तु को छोड़ने पर ही नित्य वस्तु की धारणा हो सकती है।

भक्त कहता है कि उसे कुछ भी नहीं छोड़ना है। वह सोचता है – "यह प्रतीयमान जगत् भी मेरे ईश्वर ही हैं। सर्वत्र मेरे ईश्वर ही हैं। वे सबमें व्याप्त हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत हैं। उनके बिना किसी का भी अस्तित्व सम्भव नहीं है।" यही भक्त का भाव है। ज्ञानी के मतानुसार यह जगत् वस्तुत: ब्रह्म ही है। इसमें एक ही सत्य की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह कथन और एक भक्त का कथन बाह्य रूप से तो एक ही है, किन्तु वास्तविकता में बहुत भिन्न है। एक भक्त कहता है कि यह सब कुछ ईश्वर ही है और एक ज्ञानी कहता है कि यह सब ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं है अर्थात् इन सब कुछ का अस्तित्व नहीं है, केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है। सभी वस्तुओं में ईश्वर के रूप में प्राय: इसकी गलत व्याख्या की जाती हैं। अपने एक प्रशंसक के साथ पत्राचार में स्वामी विवेकानन्द यह बात कहते हैं। मेरी हेल ने स्वामीजी को लिखा था – "आपका वेदान्त यही कहता है न कि सब कुछ ईश्वर है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया – "तुमने वेदान्त को बिल्कुल समझा ही नहीं। वेदान्त के अनुसार ईश्वर हैं और जगत् नहीं है। सब कुछ का नहीं, केवल ईश्वर का ही अस्तित्व है और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।'[३] यही वेदान्त की मान्यता है। इन उक्तियों में कमोबेश एक ही बात कही गयी है। एक सुलभ उदाहरण लेते हैं। हम एक सर्प देखते हैं। धुँधलका छाये होने के कारण जब हम एक टार्च लाकर देखते हैं, तो पता चलता है कि वह तो केवल एक रस्सी थी। तब हम कहने लगते हैं कि जिस वस्तु को हमने साँप समझा था, वस्तुत: वह रस्सी है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल रस्सी का ही अस्तित्व है और सर्प का तो अस्तित्व ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि संसार ईश्वरमय है, तो उसका अर्थ है कि ईश्वर तो हैं, किन्तु संसार की सत्ता नहीं है। यह ज्ञानी की विचार-पद्धति है। पर भक्त कहता है कि सब कुछ ईश्वर है। इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर ही सभी वस्तुओं के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं और इसका अर्थ है कि सभी वस्तुओं का नास्तित्व नहीं है। सभी वस्तुओं की सत्ता है और वह सत्ता ईश्वर की सत्ता से अभिन्न है।

यही उपरोक्त उक्तियों का मूलभूत अन्तर है। ये विभिन्न उक्तियाँ या एक ही उक्ति भक्त और ज्ञानी के लिये बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं। इसे याद रखना होगा।

भक्त के मतानुसार उसकी भक्ति प्रारम्भ से लेकर चरम बिन्दु तक एक सरीखी होती है। इसी कारण भक्ति को अन्य मार्गों से श्रेष्ठ माना जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान-मार्ग में कुछ चीजों को मिथ्या मानना पड़ता है, जबकि भक्ति-मार्ग में सब कुछ स्वीकार किया जाता है। भक्त सब कुछ स्वीकार करके उसका रूपान्तरण कर सकता है। यह एक अद्भुत उदात्तीकारण है। प्रारम्भ में जगत् ईश्वर से अलग प्रतीत होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा भक्त अनुभव करता है कि वस्तुत: हर वस्तु शाश्वत रूप से ईश्वर के साथ ही जुड़ी है।

इस प्रकार, तीन मार्ग बताये गये हैं – ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग। यहाँ योग का भी वर्णन किया गया है। योग वह मार्ग है, जिसके द्वारा हम अपने स्वभाव को, अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं। योग नामक यह आत्म-संयम का मार्ग मानसिक पवित्रता का एक साधन बन जाता है और इसीलिये यह सभी योगों के लिये आवश्यक है। अत: हम पाते हैं कि कुछ स्थानों पर योग को एक पृथक् मार्ग नहीं माना गया है। इसे केवल एक पूरक तत्त्व बताया गया है, जो अन्य सभी मार्गों के अनुसरण में सहायक है।

गीता में योग शब्द केवल कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योग शब्द का प्रचलित अर्थ है आत्म-संयम की प्रक्रिया – शारीरिक नियमन, मानसिक नियमन, श्वास-नियमन, इन्द्रियों का नियमन आदि। यह नियमन या संयम सभी मार्गों के लिये आवश्यक है। गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म के मार्गों का वर्णन है। कर्ममार्ग का अर्थ है नि:स्वार्थ कर्म। गीता में योगमार्ग, इन्द्रिय-संयम या प्राणायाम का पृथक् मार्ग के रूप से वर्णन नहीं है। यद्यपि गीता में ऐसे संयम का वर्णन है, पर वह केवल ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्गों के पूरक या सहायक के रूप में है; और गीता में योग शब्द केवल कर्म योग या नि:स्वार्थ कर्म के भाव में ही प्रयुक्त हुआ है। वहाँ योग शब्द का अन्य अर्थ नहीं है, जिस अर्थ में वह लोकप्रिय हुआ है। हर कोई कहता है कि वह योगी है। यदि कोई व्यक्ति कुछ आसन, व्यायाम आदि करता है, तो उसे योगी कहा जाता है, परन्तु वह योग बिल्कुल अलग है। वह इस अर्थ में योग हो सकता है कि वह व्यक्ति को शारीरिक रूप से अधिक सक्षम बनाता है। यदि कोई मानसिक व्यायाम करता है, तो वह व्यक्ति को मानसिक रूप से अधिक दक्ष बनाता है। परन्तु अपने आप में वह कोई आध्यात्मिक मार्ग नहीं है। अत: योगी शब्द का एक भिन्न अर्थ में प्रयोग करना होगा। नि:स्वार्थ कर्म कर्म-मार्ग है; या फिर कर्म जब ईश्वर को प्रसन्न करने लिये किया जाता है, तब वह भक्ति-मार्ग का एक अंग बन जाता है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. १८२-८३

गहरे पानी पैठ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हिन्दी में कहावत है, ''बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय। काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय।'' जब मैं जीवन की ओर दृष्टिपात करता हूँ, तो यह कहावत कितनी सत्य मालूम पड़ती है। हम जल्दी में निर्णय लेकर कोई क्रिया कर बैठते हैं और उसके फलस्वरूप जीवन-भर बिसुरते रहते हैं। जब हम बचपन में कोई काम जल्दी-जल्दी कर लेना चाहते थे, तो घर के बड़े-बूढ़े कहते थे – ''जल्दी का काम शैतान का।'' उस समय तो बात समझ में नहीं आती थी, पर बाद में प्रतीति होती थी कि हाँ, जल्दी करके हमने कितनी बड़ी भूल कर ली है।

हम कभी व्यक्ति की किसी एक छोटी-सी क्रिया को देखकर उसके सम्बन्ध में एक मत बना लेते हैं। हमें लगता है कि वह कितना अहंकारी है, अपने को बड़ा मानता फिरता है और शायद हम ऐसा सोचकर उसके प्रति अवांछित क्रिया कर बैठते हैं। जब उसके साथ थोड़ी-सी घनिष्ठता यह बताती है कि वह अहंकारी नहीं है, बल्कि संकोची है और वह संकोच के कारण अपने को अलग-थलग रखता है, तब हमें अपनी भूल मालूम होती है और हमें अपने किये का पश्चात्ताप होता है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। गृहिणी पानी भरने कुएँ पर गयी थी। घर में उसका छोटा बच्चा सोया हुआ था। उसके घर एक पालतू नेवला था। जब वह पानी भरकर आयी, तो नेवला दौड़कर दरवाजे पर आया और अपना मुँह उठा-उठाकर गृहिणी की ओर देखने लगा। गृहिणी ने देखा कि नेवले के मुख में खून-ही-खून लगा हुआ है। उसे लगा कि नेवले ने उसके छोटे बच्चे को काट खाया है। उसके मन में इतना रोष पैदा हुआ कि उसने जल का पात्र नेवले पर दे मारा और जोरों से दौड़कर वह घर में घुसी। जाकर क्या देखती है कि उसका बच्चा सुरक्षित सोया हुआ है और उसके पास ही एक विषधर सर्प के कई टुकड़े पड़े हुए हैं। तब सारी बात गृहिणी की समझ में आ गयी और वह जब दरवाजे की ओर दौड़ी। नेवले ने उसके बच्चे को साँप से बचा लिया था। पर नेवला तो चकनाचूर होकर मृत पड़ा था।

यह कथा हमारा मार्गदर्शन करती है। मुझे अपने जीवन में इस कहानी से बड़ा लाभ मिला है। जब कुछ तथ्यों के आधार पर मैं कोई निर्णय शीघ्रता में लेने लगता हूँ, तो यह कहानी याद आ जाती है और मैं निर्णय को रोक देता हूँ। कुछ समय बीतने पर जब और कुछ तथ्य मिलते हैं, तब सोच-विचार कर निर्णय लेता हूँ। मैंने पाया है कि जल्दी में लिया गया निर्णय हरदम अपूर्ण होता है और उससे हानि ही होती है।

जीवन में सफलता का रहस्य हमारे लिये गये निर्णयों में निहित होता है। सफल व्यक्ति के जीवन का अध्ययन करने पर हम पाएँगे कि वह जल्दबाजी में कोई निर्णय नहीं लेता, निर्णय लेने के पहले वह गहराई में पैठता है और पक्ष-विपक्ष – दोनों को तौलकर तब निर्णय लेता है। उथला व्यक्ति जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। जीवन में सफलता किसी बात की गहराई में पैठने की हमारी क्षमता पर निर्भर करती है।

यहाँ एक बात कह दें कि कार्यकुशल व्यक्ति भी अपना कार्य शीघ्र कर लेता है, पर वह हड़बड़ी में काम नहीं करता। काम में कुशल होना और हड़बड़ी में काम करना – ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। हमें कार्यकुशल होना चाहिए, हड़बड़ी में काम करनेवाला नहीं।

ईशावास्योपनिषद् (११)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

सत्य क्या है? सत्य ही परमात्मा है। परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। शास्त्रों में सत्य की परिभाषा है –

तेन रूपेण यो निश्चितं तत् न व्यभिचरति

– जिसका जो रूप है, यदि उसमें विकृति न आये, परिवर्तन न आये, तो वह सत्य है। जैसे 'सोना' है। स्वर्ण से अलग-अलग अलंकार बनते हैं। स्वर्ण के विकृत होने के कारण अलंकारों के विभिन्न नाम और रूप हैं। नाम-रूप की दृष्टि से उनमें बहुत भेद हैं, किन्तु 'स्वर्ण' एक ही है। अलंकारों में जो सोना है, उसमें विकृति नहीं है, नाम रूप-भेद के कारण विकृति आ गयी है। स्वर्णकार स्वर्ण के सत्य को जानने के लिये कसौटी के पत्थर पर घिसकर समझ लेता है कि यह सोना खरा या खोटा है। ठीक उसी प्रकार यह विश्व-ब्रह्माण्ड जो हमको दिख रहा है, यह नाम-रूप का जो जगत है, जिसमें हम फँसे हुये हैं, इस जगत में जो विकृति दिख रही है या नाम-रूप के कारण जो भेद दिख रहा है वह भेद सत्य नहीं है। क्योंकि सत्य का लक्षण यह है कि उसमें कोई परिवर्तन न हो। क्या ऐसा कोई सत्य है, जो कभी नहीं बदलता? इसके उत्तर में उपनिषद कहते हैं – हाँ ऐसा सत्य है। वह सत्य है आत्मा। हमें बहुत बार भ्रम हो जाता है कि यह श्वास-प्रश्वास ही आत्मा है। क्योंकि श्वास बन्द हो जाय तो प्राण चले जाते हैं। किन्तु उपनिषद इसका खण्डन करते हुये कहता है कि नहीं, यह प्राणवायु आत्मा नहीं है। वह ऐसा 'अनेजदेकं' नहीं है। उसमें इस प्रकार का कम्पन नहीं है। काल में कम्पन होता है। जैसे पंखा चल रहा है, तो पंखे का कम्पन काल में होता है, अभी देश में नहीं है। यह पंखा एक मिनिट में सौ बार घूम सकता है। उसकी गति जितना ज्यादा है उतना वह घूम सकता है, किन्तु वह अपने स्थान में है। लेकिन मोटरगाड़ी को देखें, तो उसमें देश में भी परिवर्तन है। वह एक गाँव से दूसरे गाँव पहुँच जाती है। किन्तु इस आत्मा में पंखे जैसी न तो कोई स्थानीय गति है और न देश-परिवर्तन की कोई गति है। गति कैसे होगी? जब खाली स्थान हो तब न ! जैसे प्रवचन-हॉल से उठकर आप मन्दिर में पहुँच गये। तब हॉल में खालीपन आ गया और मन्दिर में आपकी उपस्थिति हो गयी। मन्दिर और हॉल में रिक्त स्थान है; पर आकाश जो इस हॉल के भीतर है, वही मन्दिर में है उसमें कोई अन्तर नहीं आ सकता। वह कैसे जा सकता है? जैसे आकाश की गति नहीं है, वैसे ही आत्मा में भी गति नहीं है। जो आत्मा सब जगह है, उसमें गति नहीं हो सकती, वह 'अनेजदेकं' कम्पनहीन, गतिहीन है। गति तो तब होगी, जब उसमें कहीं रिक्त स्थान हो। इस आत्मा में कोई रिक्तता नहीं है। यह पूर्ण है। इस प्रकार विवेक द्वारा विश्लेषण कर हमें इसका अभ्यास करना चाहिये, इसके संस्कार मन पर पड़ने देना चाहिये। जैसे यह पंखा चल रहा है। इसमें Mechanical System (मेकेनिकल सिस्टम) है। यह एक यान्त्रिक प्रक्रिया है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर के भीतर एक यांत्रिक प्रक्रिया है। 'Psycho-mechanism' (साइको-मेकेनिज्म) मानसिक यन्त्र है और उसकी गतिविधियाँ हैं। उससे कार्य होता है। यह यन्त्र अनादि काल से क्रियात्मक रहा है। इसलिये यह उस क्रिया का अभ्यस्त है तथा उसी दिशा में चलता है, दूसरी दिशा में नहीं चलता। उसमें उस प्रकार के रास्ते बन गये हैं। यह मानसिक यन्त्र करोड़ों जन्मों से हमको यह बताता है कि हम देह हैं। यह मन, यह बुद्धि और यह दृश्य संसार सत्य है तथा इसका एक मात्र उद्देश्य है, जो भी विषय-भोग हैं, उनका इन्द्रियों के माध्यम से अधिक-से-अधिक मात्रा में भोग करो। ये संस्कार हमारे मन में जमे हुये हैं। हमारे मानसिक यंत्र की अवस्था ऐसी हो गयी है कि जिस ओर से जहाँ भी भोग की बात आती है, वह तत्काल उस ओर गतिशील हो जाता है। लेकिन यदि हम आत्मा को जानना चाहते हैं, तो हमें अब उसमें परिवर्तन लाना होगा। बार-बार तत्त्वों के चिन्तन-मनन से बुद्धि सूक्ष्म और धारणाशील बनती है। उपनिषद् के तत्त्वों को जब हम बुद्धि से समझ लेते हैं तो धीरे-धीरे विवेक जागृत होने लगता है। अगर हम बुद्धि से इन बातों को नहीं समझेंगे, तो विवेक कैसे जागृत होगा? ऐसा कहा गया है कि –

वह मन से भी तेज है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मन का भी विषय नहीं है। मन जहाँ-जहाँ जाता है, उसको अपना आभास हो जाता है। मन जब तक किसी वस्तु को विषय न बना ले, तब तक हम उसे जान नहीं सकते। यद्यपि वह प्रक्रिया इतनी तीव्र है, इतनी तेजी से होती है कि हम उसे सामान्यत: देख नहीं पाते हैं। केवल योगी उसको देख सकता है। हम जिस वस्तु की कल्पना करते हैं, हमारा मन वहीं चला जाता है तथा उस वस्तु का आकार धारण करके हमारे भीतर फिर वापस इन्द्रियों के माध्यम से लौट आता

है। बुद्धि उसे हमारी आत्मा के सामने रखती है और तब हम जान जाते हैं कि यह अमुक वस्तु है। ये सब मन के विषय हैं। जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ पहुँच सकती हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं और जहाँ-जहाँ मन पहुँच सकता है, वह मन का विषय है। यह भेद थोड़ा जानकर रखें। जैसे सुस्वादु भोजन इन्द्रियों का विषय है, जिह्वा का स्पर्श होते ही जिह्वा इन्द्रियों तक पहुँच जाती है और हमें स्वाद का अनुभव होता है। सुमधुर संगीत कानों में सुना, तब हम उसका अनुभव पाते हैं। किन्तु यहाँ कोई युवक बैठा है। वह अपने गाँव से पढ़ने के लिये आया है। अब उसको अपनी माँ की याद आ रही है। उसकी माँ किसी भी इन्द्रियों के सम्पर्क में नहीं है, किन्तु वह माँ के प्रेम का अनुभव मन से कर रहा है। इन्द्रियाँ विषयों को पकड़ती हैं और इन्द्रियों के अतिरिक्त जो मन में स्मृति है, उसे मन पकड़ता है। दृश्य और अदृश्य जगत में इन्द्रियों का और मन का खेल है। जब यह कहा गया है कि यह आत्मा मन से भी तेज है, मन जहाँ-जहाँ जाता है यह उसके आगे रहती है – अर्थात् यह मन का भी विषय नहीं है, तब व्यावहारिक प्रश्न यह आता है कि इसे – नैनद्देवा आप्नुवन् – ऐसा क्यों कहा गया है? देवा: इन्द्रियों को कहते हैं। देवता के दो अर्थ हैं – एक है इन्द्र-वरूण आदि, जो स्वर्ग में रहने वाले देवता हैं और दूसरा द्योतनात् देवा: – जो भासमान हो या प्रकाशित कर रहा हो, वह देवता है। इन्द्रियों को भी देवता कहते हैं, क्योंकि ये हमें उस वस्तु का ज्ञान करा देती हैं।

यह आत्मतत्त्व या यह चैतन्य जो हमारे भीतर विराजमान है, उसका अनुभव कैसे करें? उस परमात्मा का दर्शन कैसे करें? इस अन्तरात्मा, परमात्मा को हम अपनी आँखों से नहीं देख पाते हैं। कैसे? जैसे हम अपनी आँखों से सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को देख सकते हैं, किन्तु अपनी आँखों से अपनी आँखों को नहीं देख पाते हैं। यदि अपनी आँखों को देखना है तो दर्पण चाहिये। यद्यपि आँखें हमको सब कुछ दिखा सकती हैं, किन्तु हम आँखों को नहीं देख सकते। उसी प्रकार इस आत्मा के अस्तित्त्व के कारण ही हमको सारे विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो रहा है, किन्तु हम उस आत्मा का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं।

इस आत्मा या ईश्वर का साक्षात्कार इन चर्मचक्षुओं से नहीं हो सकता, अशुद्ध मन से नहीं हो सकता। इसके लिये अंत:करणरूपी दर्पण हमें भगवान ने दिया है। यह अंत:करणरूपी दर्पण जब एकदम परिष्कार हो जायेगा, तब हमारे हृदय में बैठा हुआ परमात्मा हमारे ही हृदय में प्रकाशित हो जायेगा। हम उसको देखने लगेंगे, उसका अनुभव करने लगेंगे।

भगवान श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, 'शुद्ध आत्मा और शुद्ध अन्त:करण एक ही वस्तु है।' कैसे? जैसे मान लीजिये, हम एक कमरे में बैठे हैं। हमारे समाने काँच का एक आवरण लगा है और उस काँच पर बहुत धूल जमी है। उस धूल के कारण काँच की दूसरी ओर क्या है, उसे हम देख नहीं पा रहे हैं। यद्यपि सब कुछ दूसरी ओर है, फिर भी उस धूल के कारण हम कुछ देख नहीं पा रहे हैं। इस धूल को यदि हम साफ कर दें, तो वस्तुएँ स्पष्ट दिखने लगेंगी। तो परिवर्तन किसमें हुआ? परिवर्तन उस काँच के परे जो वस्तुयें हैं उनमें नहीं हुआ। वे वस्तुयें तो जैसी की तैसी ही हैं। काँच साफ होते ही वे वस्तुयें हमें स्पष्ट दिखने लगीं। ठीक उसी प्रकार हमारे अन्त:करण में ज्योतिर्मय आत्मा विराजमान है। हमारा अन्त:करण वासनारूपी धूल से इतना मलिन हो गया है कि आँखों के सामने होते हुये भी हम उसे देख नहीं पाते हैं। यदि ईश्वर, गुरु की कृपा से और अपने पुरुषार्थ से, पश्चात्ताप और प्रार्थना की आँसूओं से अन्त:करण को धोया जा सके, तो अन्त:करण शुद्ध हो जायेगा और फिर वह स्वयं प्रकाशमान आत्मा अपने आप प्रकाशित हो जायेगी। इसलिये यह सन्देह निर्मूल है कि जिसको मन, बुद्धि और इन्द्रियों से नहीं जान सकते, इसलिये उस आत्मतत्त्व का अस्तित्त्व नहीं है। बल्कि वह परमात्मा अवश्य है, ऐसा विश्वास करना चाहिये। लेकिन हम ऐसा नहीं कर पाते हैं। क्यों? क्योंकि हमारा हृदय शुद्ध नहीं है। इसलिये हमें निरन्तर अपने चित्त को, हृदय को शुद्ध करने का प्रयास करना चाहिये। चित्तशुद्धि के प्रयत्न की पहली सीढ़ी है कि हमको दृढ़तापूर्वक विश्वास करना चाहिये कि मैं अपने चित्त को अवश्य शुद्ध करना चाहता हूँ। ये सभी महापुरुषों की आश्वासनदायिनी वाणी है। श्रीरामकृष्ण देव और उनके अन्तरंग शिष्यों ने भी यह कहा है कि चाहे कितनी भी गन्दगी तुम्हारे मन में क्यों न हो, यह विश्वास रखो कि इसको मैं अवश्य शुद्ध कर सकता हूँ। साधक-साधिकाओं को यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि आज मेरे अन्त:करण में कितनी भी गन्दगी क्यों न हो, किन्तु मैं उसे अवश्य शुद्ध कर लूँगा। सोने में मिलावट है तो स्वर्णकार उसे अग्नि में गलाकर उसकी मिलावट को दूर कर देता है। इसी प्रकार परम शुद्धता हमारा स्वभाव है, किन्तु जन्म-जन्मान्तर के अज्ञान और भ्रम के कारण हमने अपनी इच्छाओं और वासनाओं के द्वारा चित्त को अशुद्ध करके रखा है। जगत् जननी माँ सारदा कहा करती थीं – बेटा, यदि निर्वासना हो जाओगे, तो अभी सब कुछ मिल जायेगा। आत्मा का साक्षात्कार अवश्य हो सकता है। अत: आध्यात्मिक जीवन में निराशा के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है। यह भाव दृढ़ रखना चाहिये।

❖ **(क्रमश:)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (४०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

चम्बा के अनुभव

इसके बाद चम्बा गया। कश्मीर के सीमान्त पर वह एक छोटा-सा सिक्ख राज्य था। रास्ते में शिखर के ऊपर एक रमणीक स्थान है, जो सचमुच ही स्वर्ग है। पहाड़ के ऊपर देवदार के जंगल के बीच में एक छोटा-सा तालाब, उसके ऊपर झरना, एक छोटा-सा नागदेव का मन्दिर और उस मन्दिर और तालाब के चारों ओर घास के समान तृण से ढँका हुआ मैदान। तब तक वहाँ विश्राम-गृह नहीं बना था। उसे बाद में चम्बा-दरबार ने बनाया। सुगन्धित मन्द-मन्द पवन, अहा! मानो देवताओं का अपूर्व रम्य स्थल हो।

वहाँ से तीन मील दूर गाँव था। एक रात नागदेवता के मन्दिर के आगे पड़ा रहा। पहाड़ी पुजारी दयापूर्वक चाय देकर गाँव चले गये। वह रात बड़े ही आनन्द – अवर्णनीय, देवताओं के लिये भी वांछित आनन्द में बीती थी।

अगले दिन चम्बा गया। पहले से पत्र दिया हुआ था। हेड मास्टर से मुलाकात करते ही उन्होंने वहाँ रहने के लिए राजकीय धर्मशाले में एक बड़ा कमरा दिखाया और अपने घर भिक्षा की व्यवस्था कर दी।

चम्बा कश्मीर के समान ही ठण्डा है और चम्बल नदी के ऊपर स्थित सुदृश्य घाटी में बसा हुआ है। नगर छोटा, परन्तु खूब स्वास्थ्यकर है। इसी कारण यह क्षय-रोगियों का अड्डा बना हुआ है और घर-घर में क्षय के रोगी दीख पड़ते हैं, क्योंकि पहाड़ी लोग स्वच्छता के नियमों का पालन नहीं करते। लोभ में आकर कमरे किराये पर देते हैं और क्षयरोग लेकर जीवन भर कष्ट पाते हैं। वहाँ दो-तीन मकान निश्चित हो गये थे, जिनसे बारी-बारी भिक्षा आती।

एक दिन मैदान में घूम रहा था, साथ में महाराजा के निजी सचिव और हाई स्कूल के हेड मास्टर थे। एक व्यक्ति ने आकर लम्बा प्रणाम किया – ''महाराज का कहाँ से आगमन हुआ है'', आदि पूछने के बाद बोला – ''यह गरीब आपको भिक्षा देने की इच्छा करता है – केवल एक महीना मेरी भिक्षा स्वीकार करिये।'' देखने में वह आधा पागल सा लगता था, लेकिन मेरे दोनों संगियों ने उसके साथ काफी देर तक चर्चा करने के बाद उसे दो सप्ताह के लिए भिक्षा देने का अधिकार दे दिया – ''कितने बजे आहार करूँगा'' – पूछने पर बोला – ''ग्यारह-बारह बजे के बीच।'' फिर बोला – ''आप जब कहेंगे, नौ-दस या फिर बारह-एक बजे तक उपस्थित हो जाऊँगा। कल मैं ठीक साढ़े दस बजे पहुँच जाऊँगा, ताकि आपको यथासमय भिक्षा प्राप्त हो जाय।''

अगले दिन ग्यारह, बारह, एक, दो बज गये – बैठा ही रहा। उसकी कोई खबर नहीं। उसका मकान किधर है, यह भी नहीं पूछा था। पास में पैसे भी न थे कि कुछ खरीदकर खा लेता। सारे दिन पानी पी-पीकर रहा। रात को साढ़े दस बजे दो छोटे-छोटे दाल के बड़े और थोड़ा-सा अचार लेकर आया और दरवाजे को धक्का देने लगा। खोलकर देखा – वह स्वयं खड़ा था। बोला – ''जी स्वामीजी, बड़ी भूल हो गई। बुरा मत मानियेगा। मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा। फिर रात को जब खाना खाकर लेटा, तो सोचने लगा – कोई एक काम करना बाकी रह गया है। क्या? क्या? क्या? ... ... हाँ, अरे स्वामीजी को भिक्षा देने की बात थी और वह देने से रह गया। पत्नी से कहा – देखो, देखो, घर में कुछ खाने की चीज है या नहीं? उसके बाद ये दाल के बड़े और अचार लेकर आया हूँ। क्षमा कीजिये, कल सुबह तो मैं नौ बजे ही भिक्षा लेकर उपस्थित हो जाऊँगा।''

उन बड़ों तथा अचार को खाकर फिर सो गया। सोचा – शायद भूल गया होगा। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अगले दिन काफी दुर्बलता का अनुभव करने लगा। पहाड़ों में, विशेषकर ठण्डे स्थानों पर खाली पेट रहने से बड़ा कष्ट होता है। सोचा – आज तो अवश्य ही आयेगा। लेकिन सुबह के नौ बजे से रात के ९/१०/११ बजे तक बैठा ही रहा। जब सारी आशा त्याग चुका था, तभी दरवाजे पर खटखट होने लगी। देखा – विनय की प्रतिमूर्ति दो दही-बड़े लेकर उपस्थित हुए हैं। आते ही पिछले दिन की ही भाँति वही बात कहने लगे – ''एकदम भूल गया था। घर में कुछ था नहीं, बाजार जाकर वहाँ से ये दो दही-बड़े लेकर आया हूँ। क्षमा कीजिये, कल से बिलकुल भी भूल नहीं होगी। यह देखिये, कान पकड़ता हूँ, नाक पकड़ता हूँ। ये पगड़ी में गाँठ लगा रहा हूँ, आदि, आदि।''

उसी दिन संध्या होने के थोड़ी देर बाद एक गुजराती साधु ने मेरे पास आश्रय लिया था रात को वहीं रहेंगे। पहले एक

दिन उनके साथ चम्बा में ही भेंट तथा बातचीत हुई थी। आने के बाद उन्होंने बात-बात में पूछा था – "भिक्षा आदि की क्या व्यवस्था हुई है?" तब मैंने उन्हें सब कुछ बता दिया था। सुनकर वे बड़े ही क्रोधित हो गये और कहने लगे कि वह मिल जाय, तो मार-पीटकर ठीक कर दूँगा। उनको काफी समझा -बुझाकर चुप किया। इतने में विनय की प्रतिमूर्ति आकर हाथ जोड़कर उपस्थित हुए। साधु से कह दिया कि आप कुछ भी मत कहना, जो भी कहना है, मैं ही कहूँगा और भिक्षा के लिये मना कर दूँगा। मैंने उन सज्जन से कहा – "तो ठीक है दो दिन तो आपने भिक्षा दी। अब जरूरत नहीं है, क्योंकि आपको कष्ट हो रहा है। कहीं और व्यवस्था हो जायेगी। इसके सिवा मैं थोड़ी अधिक मात्रा में खाता भी हूँ।" – "क्या कहा? आप अधिक खाते हैं? मैंने एक योगीराज को देखा था। वे तीन उंगलियों की पोर से जितना चावल उठता था, उसी को घी के साथ पका कर खाते थे।" मैंने कहा – "हो सकता है कि वे जिस प्रकार की योग-साधना करते थे, उससे शायद उतने में ही काम चल जाता होगा, लेकिन मैं अन्य प्रकार का योग करता हूँ, इसलिए मेरा उतने से नहीं चलेगा। मुझे बहुत चाहिए, समझे? इसलिये उस तरह कम खानेवाला कोई योगी आये, तब आप भिक्षा देना। कल से कष्ट मत करना और अब पधारिये" – इतना कहकर उन्हें विदाई दी। गुजराती साधु का क्रोध से पारा चढ़ रहा था। वे बोले – "जब योगी की बात कहकर उपदेश दे रहा था, तो मेरी इच्छा हुई उठकर एक थप्पड़ मारूँ। क्या करता, आपने मना कर रखा था।"

दूसरे दिन सुबह ही हेड मास्टर ने उन सचिव महाशय को सारी बातें बता दीं और वे दौड़कर उपस्थित हुए – "क्या कहते हैं? दो दिन से बिना खाये हैं, हमारे घर क्यों नहीं आये? थोड़ा-सा सूचना भेज देने से ही हो जाता! आदि आदि। वह तो बड़ा दुष्ट निकला। उसको ...।"

मैंने कहा – "लगता है कि उसे विशेष रोग है – एक प्रकार का मानसिक रोग होता है, जिससे स्मृति में गड़बड़ होती है और बात उलटे समय पर याद आती है। जैसे कि सुबह नौ बजे करने की बात रात के नौ बजे याद आयेगी। आदमी तो अच्छा ही है, लेकिन रोग के अधीन है, तो क्या करेगा? फिर यह एक ऐसा रोग है, जिसे वह स्वयं भी नहीं समझ सकेगा, यहाँ तक कि जिन लोगों ने मनोविज्ञान तथा मनोरोगों के बारे में अध्ययन नहीं किया है, वे भी नहीं समझ सकते। इसलिये उसे और कुछ न कहना ही उचित होगा। परिव्राजक के जीवन में तो ऐसा होता ही रहता है।"

परन्तु सचिवजी इस बात को दबाकर नहीं रख सके। वे अपने कार्यालय में गये और किसी कार्यवश सनातन धर्मसभा के मंत्री (इनके साथ भी मेरा परिचय हुआ था) के वहाँ आने पर उन्हें भी यह बात बताई। इतने में राजा साहब भी वहाँ उपस्थित हुए और कुछ कान में पड़ने पर पूछा कि क्या बात है? तब सचिव ने अन्य कोई चारा न देखकर आरम्भ से सारी बातें बतायीं। तत्काल हुक्म हुआ – उसको बुलाओ। सचिव ने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, एक पत्र लिखकर प्यादे के हाथ पहले मुझे भेजा कि ऐसी-ऐसी बात हुई है, शायद उस व्यक्ति को विशेष दण्ड दिया जायेगा। मैंने जल्दी से उत्तर लिखकर प्यादे को दिया और कहा कि जाकर पहले यह मंत्रीजी को देना और फिर वे कहें, तो उस आदमी को बुलाने जाना। मैंने लिखा था कि राजा साहब से मेरा यह अनुरोध बताना कि मेरे कारण यदि उसे कोई दण्ड न दिया जाय, तो मुझे खुशी होगी; और यदि उसे दण्ड कोई दिया गया, तो मुझे अत्यन्त दु:ख होगा। बाद में सुना कि राजा साहब ने उसे बुलाकर खूब डाँट पिलाई और बता दिया कि भविष्य में ऐसी कोई शिकायत आयी, तो उसे कठोर दण्ड भुगतना होगा। उसे इतना धमका दिया था कि वह बेचारा भय के कारण दुबारा मुझसे मिलने नहीं आया – किनारा काटकर ही चलता। एक दिन अचानक भेंट हो गयी थी और उस समय वह बारम्बार क्षमा माँगने लगा। वह आदमी रियासत के डाक विभाग में कुछ काम करता था।

नगर और छावनी के बीच एक छोटा पहाड़ और उसके ऊपर चण्डी का मन्दिर था। वहाँ की दृश्यावली अत्यन्त सुन्दर थी। वहीं रहने की इच्छा होने के कारण वहाँ गया। तय हुआ था कि ये लोग वहीं सीधा भेज देंगे, परन्तु उसमें बड़ी अनियमितता हुई। मैं थोड़ी-सी मूंग की दाल मँगाकर, उसी को उबालकर उसमें अच्छी तरह घी की छौंक लगाकर खा लेता और इसी प्रकार अधिकांश दिन बिताये। कभी-कभी चावल तथा रोटियाँ भी जुट जातीं। शौच तक मूंग के दाल के रंग का हो गया। लेकिन स्थान बड़ा अच्छा लग रहा था, इसलिये अन्त तक वहीं रहा।

सामने तीन ओर से खुला था। नाट्य मन्दिर (हॉल) की एक बड़ी बेंच पर रात बिताता और दिन में बगल की धर्मशाला के एक छोटे-से कमरे में रहता। पकाना आदि वहीं करता। एक -एक दिन के अन्तर से बुढ़िया नौकरानी एक घड़ा अच्छा पानी दे जाती। और पास में ही एक छोटा झरना था, जिसका पानी दिन-रात एक गड्ढे में एकत्र होता रहता। उसी में स्नान आदि कर लेता। मन्दिर के पुजारी कनफटा नाथ सम्प्रदाय के थे। जिस दिन रहने के लिये गया, पुजारी ने कहा – "देवीजी रात में किसी को भी नहीं रहने देतीं। जिस किसी ने भी चेष्टा की, उसका अनिष्ट हुआ है। आप क्यों आये?" (पुजारी स्वयं भी वहाँ रात में रहते नहीं थे।) मैं बोला – "जब आ ही गया हूँ, तो रहकर देखूँगा। यदि बिलकुल ही चले जाने को कहें, तो चला जाऊँगा।"

पुजारी हर रोज सुबह आते ही पूछता – "कुछ दिखा क्या?" एक दिन एक छोटा-सा नीले रंग का साँप देखा। नाट्य मन्दिर में घूम रहा था। लाठी की आवाज करते ही चला गया, दुबारा नहीं आया। पुजारी को यह बात बताते ही वे बोले – "यह नोटिस दे रही हैं।"

एक रात बैठकर जप कर रहा था। रात्रि के लगभग डेढ़ या दो बजे थे। कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी रात थी। केवल नीचे शहर की बिजली की बत्तियाँ और ऊपर छोटे-छोटे तारे चमक रहे थे। चम्बल नदी की सों-सों की आवाज सुनाई दे रही थी। बाकी सब कुछ निस्तब्ध था। मेरे बाँये कान के पास बेंच के पीछे कब एक बड़ा काला उल्लू आकर बैठ गया, इसका मुझे जरा भी आभास नहीं मिला। सहसा – 'हूँ-हूँ' – की गम्भीर आवाज आकर कानों से टकराने लगी। मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा। मुड़कर देखने का प्रयास कर रहा था, परन्तु गरदन ही नहीं हिल रही थी, लकड़ी की भाँति अकड़ गयी थी। अन्त में बड़ी मुश्किल से गरदन घुमाकर देखा – काले रंग का एक बहुत बड़ा उल्लू! उसकी बैगन के समान आँखों पर मेरी दृष्टि पड़ते ही उड़ गया। शरीर पर उसके पंखों की हवा लगी। यह क्या था?

अगले दिन पुजारी को बताया, तो वे बोले – "बस, पूरी नोटिस है। यह स्थान जल्दी छोड़ दीजिये।" फिर उन्होंने जाकर यह बात राज-पुरोहित से भी कही और कुछ गणना करके बताया – "छह महीने के अन्दर मृत्यु निश्चित है।" राजा स्वयं ही अपने उन निजी सचिव और सनातन धर्म के मंत्री को साथ लेकर शाम को आ पहुँचे। वे बोले – "अब आप केवल छह महीने और हैं।" मैंने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा – "आपने मुझे बचा लिया, देह-धारण तो विडम्बना मात्र है। बोलिये, कौन चाहेगा इसमें अधिक दिन तक गुलामी करना? जो लोग चाहते हैं, वे इसमें सुख देखते हैं। मैं तो नहीं देखता, इसीलिये ...।"

– "स्वामीजी यह बात आपके ही मुख से शोभा देती है। ऐसी बात सुनकर भी आप हँस रहे हैं। हममें से कोई होता, तो – 'हाय-हाय, क्या होगा? क्या होगा?' – करके मरता।"

अस्तु और भी पन्द्रह दिन वहाँ रहकर भारी वर्षा और भोजन आदि समय पर न जुटने के कारण चम्बा से विदा ली। वर्षा के कारण उठना-बैठना मुश्किल हो रहा था और भोजन के अभाव में शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था।

पठानकोट की ओर

वहाँ से एक शार्टकट मार्ग पकड़कर ६५-६६ मील दूर स्थित पठानकोट जाने का निश्चय किया। मेरे पास जूते नहीं थे। यात्रा के दिन सुबह हेड मास्टर ने एक जोड़ा स्थानीय चमड़े के जूते तेल आदि लगाकर प्रदान किये। थोड़ी दूर जाते ही जूते काटने लगे। पाँवों में फफोले पड़ गये। उसके बाद मूसलाधार वर्षा होने लगी। पास में कोई गाँव न था। कोई भी आश्रय न था। पेड़ भी छोटे-छोटे थे। कम्बल से ही छाते का काम लिया जा रहा था। बीच-बीच में उसे निचोड़ रहा था और ओढ़ रहा था। इसी प्रकार संध्या तक चलता रहा। १४-१५ मील चलने के बाद एक गाँव पड़ता है, बीच में और कोई बस्ती नहीं है।

शाम के समय, जब गाँव २-३ मील दूर रह गया था, चम्बल के पुल से लगभग आधे मील पूर्व मैं बड़ी भयानक मुश्किल तथा संकट में पड़ गया। रास्ता काफी दूर तक धँस गया था। सामने खड़ा पहाड़ था। उसके ऊपर से एक झरना आकर सब कुछ धोकर ले जा चुका था। किसी प्रकार उतना मार्ग नीचे उतरकर जाने का उपाय सोचने लगा। देखा कि चम्बल नदी की ओर चौथाई मील नीचे नदी में बाढ़ आयी हुई है – चम्बल रुद्राणी भयंकरी मूर्ति धारण किये हुए प्रलयेश्वरी होकर इतने तीव्र वेग से बह रही है कि तिनका भी पड़ जाय तो टूटकर दो टुकड़े हो जाय। नदी की ओर एक पगडण्डी उतर गयी थी और उसके पास जाकर उस झरने के पार चली गयी है – देखकर रास्ता पाने की आशा में उसी ओर उतरा।

तब तक वर्षा थोड़ी कम हो गयी थी। नदी से केवल ८-१० हाथ ऊपर ही उस झरने ने रास्ता पार किया था, परन्तु वर्षा के कारण उस समय झरने ने भी चण्डिका की रणमूर्ति धारण कर रखा था। खूब पानी और तीव्र प्रवाह था। थोड़ा-सा सन्तुलन बिगड़ते ही क्षण भर में ही खींचकर चम्बल नदी में पहुँचा देगी। और भीगते हुए ८-१० मील आने के बाद अब उस वर्षा में ठहरना भला कैसे सम्भव था? ठण्ड से ही तो शरीर अकड़ जाता। उस पार गये बिना और कोई चारा न था। वहाँ से पुल के उस पार पहाड़ी गाँव दिखाई दे रहा था।

लगा कि झरने का पानी थोड़ा कम हुआ है। एक बड़ी लाठी थी। सोचा – उसके सहारे ही पार हो सकूँगा। नहीं तो, वैसे भी निश्चित रूप से मृत्यु के मुख में पड़ा हूँ और झरने के प्रवाह में पड़ जाने से भी चम्बल की गोद में मृत्यु निश्चित थी। झरने में उतरकर कुछ कदम चलते ही दाहिना पाँव आधे से भी अधिक और बाँया पाँव थोड़ा-सा, कीचड़ में घुस गया। लाठी भी आधे से अधिक घुसकर ठहर गयी थी। ऊपर से झरने का कीचड़ युक्त जल-प्रवाह आ रहा था और फिर आरम्भ हुई आकाश से मूसलाधार वर्षा। उस बर्फीले पहाड़ पर ऐसी अवस्था में पड़ा था! जगदम्बा की इच्छा है कि इस अनजाने प्रदेश में इसी प्रकार यह शरीर नष्ट हो – यही समझकर मैंने उनके स्मरण-मनन में मनोनियोग किया। सोच रहा था कि यही उनका अन्तिम स्मरण है। १५-२० मिनट इसी भाव में रहा। जिस रास्ते को मैं चौथाई मील ऊपर छोड़ आया था, वही रास्ता फिर धँसा। मैं स्पष्ट देख

रहा था कि ऊपर से बड़े-बड़े बोल्डर, पत्थर, कीचड़ आदि लुढ़कते हुए तीर के वेग से चले आ रहे थे। बस, माँ ने जीवन्त समाधि की व्यवस्था कर दी है – क्षण भर में ही ऐसा सोचकर – आवृत्तचक्षु: चित्त को आत्मा के स्मरण में लगाया। कितने समय तक उस भाव में था, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता। सहसा ठण्डी हवा के झोंके से शरीर में ठण्ड का बोध हुआ – शरीर काँप रहा था। आँखें खोलकर देखा तो वर्षा थम चुकी थी और मेरे चारों ओर बहुत-से बोल्डर, पत्थर आदि आकर एकत्र हो गये थे। एक विशाल पत्थर ठीक हाथ के पास ही आकर ठहर गया था। यदि वह एक और करवट लेता तो ऊपर चढ़कर कुचल डालता। तब मन में आया कि प्रयास करके देखूँ, लगता है कि जगदम्बा की कुछ दिन और शरीर को रखने की इच्छा है।

उस विशाल पत्थर के ऊपर भार डालकर पाँवों को धीरे-धीरे (कीचड़ से) निकालने लगा। इसके सिवा उसे निकालने का और कोई भी उपाय न था। इसके बाद उस झरने के दोनों ओर एकत्र हुए पत्थरों के ऊपर से होते हुए सहज ही झरने के उस पार पहुँच गया और जगदम्बा को प्रणाम करके आगे की ओर अग्रसर हुआ। जिसे मैंने निश्चित मृत्यु समझा था, वही निश्चित जीवन का कारण हुआ। तुम्हारी माया के राज्य में सब कुछ सम्भव है, माँ! धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारी लीला! कर्मभोग अब भी बचे हुए हैं, इसीलिये तुमने इस शरीर को बचाया है। इसके सिवा क्या कोई अन्य कारण हो सकता है? संन्यासी के लिये तो इस समय मृत्यु हो या बाद में – दोनों ही समान है। तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो!

दाहिने पाँव में चोट लगी थी, इसलिये घिसट-घिसट कर चलना पड़ रहा था। पुल के इस किनारे एक छोटी-सी पहाड़ी दुकान थी। देखा कि पुल के गेट पर ताला लगा है। चम्बल का पानी उसके दो-एक अंगुल नीचे से तीर के वेग से बह रहा था। वह किसी भी क्षण पुल के ऊपर चढ़ सकता था और पुल को भी ले जा सकता था। इसी कारण उसे बन्द रखा गया था। दुकानदार के पास ही उसकी चाभी रहती थी।

मुझे देखकर वह बोला – "ताला खोलना मना है। आज इधर ही रहिये।" इसके बाद मेरे शरीर की दुरवस्था देखकर समझ गया कि इस वर्षा में मुझे बड़ा कष्ट हुआ है। उसके पूछने पर मैंने बताया – "चम्बा से आ रहा हूँ।" – "रास्ता तो धँस गया है। किस प्रकार पार करके इधर आये?"

केवल इतना ही कहा कि किसी प्रकार नीचे से होकर आ रहा हूँ। अन्य बातें अनावश्यक समझकर नहीं कहा। इसी बीच उस दुकानदार के भाई बाहर आये और मुझे देखते ही बोले – "आइये महाराज, भीतर आइये। इस कमरे में आग है। थोड़ा सेंक लीजिये। ओह, आपने कितना कष्ट उठाया है! कपड़े आदि सब खोल डालिये। यह गमछा लीजिये। (यह कहते हुए उसने दुकान से एक नया गमछा दिया।)" फिर उसने स्वयं ही मेरे कपड़ों तथा कम्बल को निचोड़कर सूखने के लिये डाल दिया। इसके बाद उसने थोड़े-से सरसों के तेल में जरा-सा कपूर डाला और उसे गरम करके पूरे शरीर में मालिश कर दिया। दो-तीन कप चाय पिलाने के बाद दो नये कम्बल देकर बोला – "यहीं पर लेट जाइये। खिचड़ी बन जाने पर बुलाऊँगा। तब तक सो लीजिये।" मैं कुछ भी बोल नहीं रहा था, बोलने की शक्ति भी नहीं थी। जो इतने कष्टों के बीच से ले आये थे, यह उन्हीं की व्यवस्था थी – "यह तुम्हारी कैसी लीला है? लगता है करीब दो घण्टे बाद मुझे पुकार कर उठाया और मूंग के दाल की गरम-गरम पतली खिचड़ी खाने को दी। उसे खाकर फिर सो गया।

सुबह जब नींद खुली, तब तक काफी समय हो चुका था। प्रात:कृत्य समाप्त करके आते ही फिर सोंठ डालकर बनी हुई गुड़ की चाय दी। उस दिन भी पुल बन्द रहा। सारी रात वर्षा होती रही थी और तब भी हो रही थी। पानी पुल के ऊपर से होकर छलकता हुआ चला जा रहा था। पुल के बह जाने की सम्भावना ही अधिक थी। शरीर काफी कुछ स्वस्थ लग रहा था। दोपहर को भोजन के बाद खूब सोया। उसके बाद से शरीर पूरी तौर से स्वस्थ प्रतीत होने लगा। यद्यपि दाहिने पाँव में पहले से ही थोड़ी दुर्बलता होने के बावजूद थोड़ा अच्छा लगा रहा था।

इसके बाद दोनों भाइयों द्वारा कर्म तथा धर्म के विषय में दो-एक प्रश्न करने पर उनके साथ थोड़ी देर बातचीत की। यदि पुल उड़ भी गया तो चिन्ता मत कीजियेगा, हमारे गाँव में चलकर रहियेगा। यहाँ से तीन मील दूर पहाड़ के ऊपर है। अहा, इन लोगों का कैसा सुन्दर भाव है! इन लोगों ने संन्यासी के प्रति जो अनुग्रह किया, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता। इनके ऋण का शोधन नहीं किया जा सकता। जगदम्बा इनका कल्याण करें।

इस प्रकार उनकी दुकान में दो रात निवास हुआ। तीसरे दिन आकाश स्वच्छ देखकर फिर रवाना हुआ। रास्ते में और भी दो दिन कोई कष्ट नहीं हुआ। ❖ (क्रमश:) ❖

समुद्रयात्रा : मुम्बई से जापान

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में चीन-जापान में उनके क्या अनुभव रहे – प्रस्तुत है उसी का विवरण। – सं.)

जलयान तथा मार्ग से पत्र

पिछले लेख में हमने देखा कि खेतड़ी-नरेश के निजी-सचिव मुंशी जगमोहन लाल ने स्वामीजी के यात्रा की सारी सुव्यवस्था करके उन्हें जलयान में बैठाकर विदा किया। यात्रा के दौरान स्वामीजी ने अपने कई परिचितों, विशेषकर खेतड़ी-नरेश को अनेक पत्र लिखे थे, पर उनमें से अधिकांश खो चुके हैं। उनके बारे केवल कुछ सूचनाएँ और उनमें क्या लिखा होगा इस विषय में किंचित् आभास मात्र मिलता है।

मुंशी जगमोहन लाल ने ७ जुलाई १८९३ को स्वामीजी के भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त को एक पत्र में सूचित किया है – "मुम्बई से प्रस्थान करने के बाद स्वामीजी सानन्द शिकागो की समुद्री यात्रा कर रहे हैं। महाराजा को उनके दो पत्र मिले हैं – एक कोलम्बो से और दूसरा पेनांग से – दोनों जलयान पेनिन्सुला से ही लिखे गये हैं।"[१]

स्वामीजी के भी एक परवर्ती काल के, दार्जिलिंग से १५ अप्रैल १८९८ को लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने इन यात्राओं के दौरान राजा को कई पत्र लिखे थे –

"प्रिय जगमोहन, अपने जापान, यूरोप तथा अमेरिका के मार्ग में तथा उन स्थानों में निवास करते समय मैंने महाराजा को जो पत्र लिखे थे, यदि वे मिल जायँ, तो यथाशीघ्र उन सभी को सावधानीपूर्वक पैक कराकर रजिस्टर्ड डाक द्वारा मठ के मेरे पते पर भेज दें।

आशीर्वाद सहित, आपका ही विवेकानन्द"[२]

अत: अमेरिका से जाते हुए मार्ग में जहाज से तथा जहाँ कहीं ठहरे, इस प्रकार कोलम्बो (श्रीलंका), पेनांग (मलेशिया) और याकोहामा (जापान) से खेतड़ी के महाराजा, मुम्बई के अपने मित्र बैरिस्टर रामदास तथा कालीपद घोष और चेन्नै के अपने अनुरागी शिष्यों को अनेक पत्र लिखे थे। उनमें से अब केवल एक ही पत्र अब उपलब्ध है, जो जापान के याकोहामा नगर से आलासिंगा पेरूमल के नाम लिखा हुआ है। अन्य पत्र भी यदि मिलते, तो स्वामीजी के तत्कालीन मनोभाव के विषय में काफी जानकारी मिलने की सम्भावना थी। अस्तु। पत्रों के मजमून के विषय में किंचित् जानकारी मिलती है स्वामीजी के भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त से। उन्हें इनमें से कुछ पत्रों की प्रतिलिपि पढ़ने को मिली थी। वे लिखते हैं – "मुन्शी जगमोहन लाल स्वामीजी के साथ बम्बई जाकर उन्हें जहाज पर चढ़ा दिया था। ... राजा साहब ने वर्तमान लेखक को स्वामीजी के शिकागो-यात्रा के विषय में सूचित किया और स्वामीजी द्वारा जापान (कोबे) से लिखे गये मूल पत्रों को अपने पास रखकर उनका नकल कोलकाता भेज दिया था। शरत् महाराज (सारदानन्दजी) उन पत्रों को पढ़कर विशेष आनन्दित हुए थे।"[३] इसके सिवा उन्होंने मुंशी जगमोहन लाल से भी उन दिनों की बातें सुनी भी थीं। और इसके कई दशाब्दियों बाद उन्होंने उन बातों को अपनी स्मृति से लिपिबद्ध किया, जिनमें थोड़ी-बहुत भूल हो सकती है, तथापि उन पत्रों की बातों की झलक मिलती है। वे लिखते हैं[४] –

"१८९३ ई. में स्वामीजी ने पी. एण्ड ओ. कम्पनी के एस.एस. पेनिन्सुला नामक जलयान से जापान की यात्रा की। एक सप्ताह के भीतर ही जहाज कोलम्बो पहुँचा और पूरे दिन वहीं खड़ा रहा। इसी दौरान स्वामीजी ने जहाज से नीचे उतरकर नगर को देख लिया। वहाँ पर वे एक बौद्ध मन्दिर में भी गये थे। इसके बाद जहाज मलेशिया की राजधानी पेनांग और तदुपरान्त सिंगापुर होते हुए हांगकांग बन्दरगाह पहुँचा। हांगकांग नगर में स्वामीजी तीन दिन रहे और कैंटन देखने गये थे। (वहाँ) विदेशियों को 'फॉरेन डेविल' कहते हैं, परन्तु स्वामीजी संन्यासी थे और भारतवर्ष से आये थे, इस कारण उन लोगों ने उनके प्रति थोड़ा सम्मान दिखाया था। कैंटन से वे पुन: हांगकांग लौटे और वहाँ से चलकर जापान पहुँचे। यहाँ पर स्वामीजी ने जहाज बदला और इसके साथ ही जापान के कई नगर भी देख लिये। जापान से उन्होंने खेतड़ी के राजा को कई पत्र लिखे थे और उनमें जापान की शिल्पकला तथा राष्ट्रीय उन्नति के विषय में विस्तार से लिखा था। खेतड़ी के राजा अजीतसिंह उन सभी पत्रों को अपने पास सुरक्षित रखकर, उनकी नकल कराकर वर्तमान लेखक के पास कोलकाता भेज देते थे और (हम तथा वराहनगर मठ के) सभी लोग उन पत्रों को पढ़कर आनन्दित होते। याकोहामा से स्वामीजी पुन: जहाज में सवार होकर, प्रशान्त महासागर पार करके वैंकुवर (कनाडा) पहुँचे।

१. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shanker Sharma, 2nd Ed., 1982, P. 154; २. Ibid, P. 12-13

३. 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, (बँगला पुस्तक) भाग २, पृ. १८६; ४. वही, भाग ३, पृ. १-३

गर्मी का मौसम होने के बावजूद वैंकुवर उस समय काफी ठण्डा था। (बम्बई में) आलासिंगा (तथा जगमोहन लाल) आदि ने उनके लिए जो पोशाक बनवाये थे, वे गरम देशों के लिए ही उपयोगी थे। शीतप्रधान देश की गर्मियों में भी वे उपयोगी नहीं थे। अत: स्वामीजी को ठण्ड से कष्ट उठाना पड़ा था। जहाज के कप्तान ने स्वामीजी का कष्ट समझकर अपना गरम 'लबादा' आदि स्वामीजी को पहना दिया था।

''बम्बई से प्रस्थान करने के बाद भारतवर्षीय अंग्रेजों ने स्वामीजी के प्रति थोड़ा गम्भीर भाव धारण किया था, परन्तु कोलम्बो तथा अन्य बन्दरगाहों से जो अंग्रेज जहाज में सवार हुए, वे लोग बड़े सहज-सरल भाव से स्वामीजी के साथ विविध विषयों पर वार्तालाप करने लगे।

''स्वामीजी ने राजा साहब को पत्र में लिखा था, 'ये अंग्रेज हाल ही में इंग्लैंड से आये हैं, अत: भारतवासियों को अपमानसूचक दृष्टि से नहीं देखते।' जहाज में स्वामीजी निरन्तर विभिन्न विषयों पर वार्तालाप करना पड़ता था और उन्होंने अपनी एक अच्छी टोली बना ली थी। प्रथम श्रेणी के यात्री होने के कारण माँगते ही चाय-कॉफी आ जाती थी। सुप्रसिद्ध टाटा भी उसी जहाज में थे। स्वामीजी ने पत्र में लिखा था कि उन्होंने टाटा से कहा था, 'जापान से दियासलाई ले जाकर अपने देश में बिक्री करके आप जापान को क्यों लाभ पहुँचा रहे हैं? आपको इसमें थोड़ा-सा कुछ कमीशन ही तो मिलता है! इसकी जगह देश में ही दियासलाई का कारखाना बनाने से आपका फायदा होगा, बहुत-से लोगों को आजीविका मिलेगी और देश का धन भी देश में ही रह जायेगा।' परन्तु टाटा इस प्रस्ताव में कई प्रकार की कठिनाइयाँ बताते हुए अपनी असहमति जताने लगे। उन दिनों जापानी लोगों का दियासलाई के व्यापार पर एकाधिकार था। स्वामीजी ने राजा साहब को लिखा था, 'पहले दिन लोटा हाथ में लिए २५ बार शौचालय जाना पड़ता था, पर जहाज में आने के बाद से मेरा पेट काफी ठीक हो गया है, अब उतने बार नहीं जाना पड़ता।' स्वामीजी ने जापान से लेस (फीता) खरीदकर राजाजी को भेजा था और लिखा था, 'रुपये बैंक (थामस कुक) की मारफत सीधे अमेरिका चले गये हैं, अन्यथा यदि हाथ में होते तो जापान की कलात्मक चीजें खरीदकर देश लौट आता, अमेरिका जाने का संकल्प बिल्कुल छोड़ देता।' ''

करीब पाँच सप्ताह की यात्रा करके स्वामीजी जापान पहुँचे। वहाँ से याकोहामा नगर के ओरियेंटल होटल से १० जुलाई १८९३ को उनके द्वारा लिखित पत्र इस प्रकार है –

स्वामीजी का याकोहामा से पत्र

प्रिय आलासिंगा, बालाजी, जी. जी. तथा चेन्नै के अन्य मित्रगण,

निरन्तर अपनी गतिविधियों की सूचना न दे पाने के लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। यात्रा में बड़ी व्यस्तता रहती है और विशेषकर बहुत-सा सामान अपने साथ रखना और उनकी देखभाल करना, मेरे लिये एक नयी बात है। इसी में मेरी काफी शक्ति लग रही है। सचमुच यह बड़े झंझट का काम है।

बम्बई से कोलम्बो पहुँचा। हमारा स्टीमर वहाँ दिन भर ठहरा रहा। इस बीच स्टीमर से उतरकर मुझे शहर देखने का अवसर मिला। हमने सारा शहर देख डाला; वहाँ की और सब वस्तुओं में भगवान बुद्धदेव के निर्वाण के समय की लेटी हुई मूर्ति की याद मेरे मन में अभी तक ताजी है। *मन्दिर के पुजारियों से बातें करने का प्रयास किया, पर वे लोग सिंहली भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा जानते ही नहीं, अत: मुझे अपना यह प्रयास छोड़ना पड़ा। वहाँ से ८० मील दूर श्रीलंका के मध्यभाग में स्थित कैंडी शहर सिंहली बौद्ध धर्म का केन्द्र है। परन्तु मेरे पास वहाँ तक जाने का समय न था। यहाँ के गृहस्थ बौद्धगण, चाहे पुरुष हों या नारी, सभी मत्स्य-मांस खानेवाले हैं, केवल पुरोहितगण ही शाकाहारी हैं। सिंहली लोगों का डीलडौल तथा पोशाक तुम मद्रासियों के ही समान है। उनकी भाषा के विषय में मुझे कोई ज्ञान नहीं है, तथापि उच्चारण सुनकर लगता है कि वह तुम लोगों के तमिल के ही समान है।*

इसके बाद जहाज पेनांग में ठहरा, जो मलय प्रायद्वीप में समुद्र के किनारे का एक छोटा-सा टापू है। यह एक बड़ा छोटा-सा नगर है, परन्तु अन्य सुनिर्मित नगरों के समान ही खूब साफ-सुधरा है। मलयनिवासी सब मुसलमान हैं। किसी जमाने में ये लोग मशहूर समुद्री डाकू थे और व्यापारी इनके नाम से घबराते थे। पर आजकल जहाजी बेड़ों के विशाल तोपों के भय से ये लोग डकैती छोड़कर कम झंझटवाले कार्य करने को बाध्य हो गये हैं।

पेनांग से सिंगापुर जाते हुए हमें उच्च पर्वतमालाओं से युक्त सुमात्रा द्वीप दिखायी दिया। जहाज के कप्तान ने हमें समुद्री डाकुओं के बहुत-से पुराने अड्डे दिखाये। सिंगापुर स्ट्रेट्स सेट्लमेंट (प्रणाली उपनिवेश) की राजधानी है। यहाँ एक सुन्दर वानस्पतिक उद्यान है, जिसमें ताड़ जाति के तरह-तरह के वृक्ष एकत्र किये गये हैं। ट्रैवेलर्स पाम नामक पंखेनुमा पत्तोंवाले ताड़ वृक्ष यहाँ काफी दिखते हैं और ब्रेड फ्रूट नामक पेड़ तो हर जगह दीख पड़ता है। मद्रास में जैसे आम के पेड़ों की बहुतायत है, वैसे ही यहाँ प्रसिद्ध मैंगोस्टीन नामक फल बहुत होता है। पर आम तो आम ही है, उसके साथ भला किस फल की तुलना हो सकती है? यद्यपि यह स्थान भूमध्य रेखा के काफी निकट है, तो भी मद्रास के लोग जितने साँवले होते हैं, यहाँ के लोग उसके अर्धांश भी नहीं होते। सिंगापुर में एक बढ़िया अजायबघर भी है। *यहाँ शराब तथा लम्पटता काफी मात्रा में विद्यमान है, मानो यही यहाँ के यूरोपीय उपनिवेशकारियों का प्रधान कर्तव्य हो। प्रत्येक*

बन्दरगाह पर जहाज के लगभग आधे नाविक उतरकर ऐसे ही स्थानों की खोज करते हैं, जहाँ सुरा और संगीत के साथ नरक का राज्य चलता है। खैर, रहने दो ये बातें।

चीन और हांगकांग

इसके बाद हांगकांग आता है। यहाँ चीनी लोग इतनी बड़ी संख्या में हैं कि भ्रम हो जाता है कि हम चीन में ही पहुँच गये हैं। लगता है कि सारा श्रममूलक तथा व्यवसायिक कार्य इन्हीं के हाथों में हैं। हांगकांग वस्तुत: चीन ही तो है। जहाज ज्योंही वहाँ लंगर डालता है, त्योंही सैकड़ों चीनी डोंगियाँ आपको तट पर ले जाने के लिए घेर लेती है। दो-दो पतवारें होने के कारण ये डोंगियाँ कुछ विचित्र-सी लगती हैं। माझी सपरिवार डोंगी पर ही रहता है। पतवारें प्राय: स्त्री ही चलाती है। एक पतवार को दोनों हाथों से और दूसरी को पैर से चलाती रहती है। और उनमें से नब्बे प्रतिशत स्त्रियों की पीठ से उनके बच्चे इस प्रकार बँधे रहते है कि आसानी से हाथ-पैर डुला सकें। मजे की बात तो यह है कि ये नन्हे-नन्हे चीनी बच्चे अपनी माताओं की पीठ पर आराम से झूलते रहते हैं और उनकी माताएँ कभी अपनी पूरी शक्ति लगाकर पतवार घुमाती हैं, कभी भारी बोझ उठाती हैं, या कभी बड़ी फुर्ती के साथ एक डोंगी से दूसरी डोंगी पर कूद जाती हैं। निरन्तर इधर से उधर जानेवाली डोंगियों तथा स्टीमरों की भीड़-सी लगी रहती है। सर्वदा इन चीनी बाल-गोपालों के शिखायुक्त मस्तकों के चूरचूर हो जाने का डर रहता है। पर उन्हें इसकी क्या परवाह? इन बाहर की हलचलों से उनका कोई सरोकार नहीं, वे तो अपनी चावल की रोटी कुतर-कुतर कर खाने में मस्त रहते हैं, जो काम के झंझटों से बौखलायी माँ उनके हाथ में दे देती है। चीनी बच्चों को पूरा दार्शनिक ही समझिये। जिस उम्र में भारतीय बच्चे घुटनों के बल भी नहीं चल पाते, उस उम्र में वह स्थिर भाव से चुपचाप काम पर जाता है। अभाव का महत्त्व वह भलीभाँति सीख और समझ लेता है। चीनी और भारतीयों की घोर निर्धनता ने ही उनकी संस्कृतियों को निर्जीव बना रखा है। साधारण हिन्दू या चीनी के लिए उसका दैनिक अभाव इतना भयंकर लगता है कि उसे और कुछ सोचने की फुरसत ही नहीं होती।

हांगकांग बड़ा सुन्दर नगर है। वह पर्वत की ढलाव पर बसा हुआ है। पर्वत के शिखरों पर भी बस्तियाँ हैं, जहाँ नगर की अपेक्षा अधिक ठण्ड पड़ती है। ट्रामगाड़ी पहाड़ पर प्राय: सीधी ही ऊपर चढ़ती है। लोहे के तारों की रस्सी और भाप के द्वारा खींचकर उसे ऊपर की ओर चलाया जाता है।

हांगकांग में हम लोग तीन दिन रहे। वहाँ से कैंटन देखने गये। हांगकांग से एक नदी के चढ़ाव की ओर प्राय: अस्सी मील चलकर इस नगर में पहुँचा जा सकता है। नदी का पाट इतना चौड़ा है कि बड़े-से-बड़े जहाज भी उसमें से होगर जा सकते हैं। बहुत-से चीनी स्टीमर हांगकाग तथा कैंटन के बीच आते-जाते रहते हैं। हम लोग शाम को एक ऐसे ही स्टीमर में सवार हुए और अगले दिन भोर में कैंटन पहुँचे। वहाँ की भीड़भाड़ और व्यस्त जीवन का क्या कहना? नावें तो इतनी अधिक हैं कि मानो उनसे नदी पट गयी हो। ये नावें केवल व्यापार के ही काम नहीं आतीं, बल्कि सैकड़ों ऐसी भी हैं जिनमें घर की भाँति लोग रहते है। और इनमें से अधिकांश बहुत बढ़िया और बड़ी-बड़ी हैं। वास्तव में इन्हें पानी पर तैरते हुए घर ही समझो। सच पूछो तो ये बड़े-बड़े दुमंजिले या तिमंजिले मकानों की भाँति हैं, जिनके चारों ओर बरामदा है और बीच में रास्ते। पर यह सब कुछ पानी पर तैरता हुआ है। जिस जगह हम लोग उतरे वह चीन सरकार की ओर से विदेशियों को रहने के लिए दी गयी है। हमारे चारों ओर, नदी के दोनों किनारों पर मीलों तक यह नगर बसा है – एक असंख्य जनसमूह जिसमें निरन्तर कोलाहल, धक्कामुक्की तथा आपसी स्पर्धा का ही बोलबाला दीख पड़ता है। परन्तु इतनी आबादी, इतनी क्रियाशीलता होते हुए भी इतना गन्दा शहर मैंने अब तक नहीं देखा। अर्थात् जिसे आप लोग भारतवर्ष में गन्दगी समझते हैं, उस दृष्टि से नहीं – चीनी लोग कूड़े का एक तिनका भी बेकार नहीं जाने देते – पर ऐसा लगता है कि इन लोगों ने कभी न नहाने की कसम खा ली हो। प्रत्येक घर में नीचे दुकान है और ऊपर लोग रहते हैं। गलियाँ इतनी सँकरी हैं कि उनमें से गुजरते हुए हाथ फैलाकर आप दोनों ओर की दुकानों को लगभग छू सकते हैं। हर दस कदम पर मांस की दुकान मिलती हैं। ऐसी दुकानें भी हैं, जिनमें कुत्ते-बिल्लियों का मांस बिकता है। हाँ, यह मांस वे ही लोग खाते हैं, जो बड़े गरीब हैं।

चीनी महिलाएँ बाहर दिखायी नहीं देतीं। इनमें उत्तर भारत की भाँति ही परदे की प्रथा है। केवल मजदूरों की औरतें ही बाहर दिखायी पड़ती हैं। इनमें भी एकाध स्त्री ऐसी दिखायी पड़ेगी, जिसके पैर बच्चों से भी छोटे हैं और वह लड़खड़ाती हुई चलती है।

मैं बहुत-से चीनी मन्दिरों में गया। कैंटन में जो सबसे बड़ा मन्दिर है, वह प्रथम बौद्ध सम्राट् और सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले पाँच सौ पुरुषों के स्मारक-स्वरूप है। मन्दिर के बीचो-बीच बुद्धदेव की मूर्ति है, उसके नीचे सम्राट् की और दोनों ओर शिष्यों की मूर्तियों की कतारें हैं। ये सभी लकड़ी में खूबसूरती से खोदकर बनायी गयी हैं।

जापान का परिदर्शन

कैंटन से मैं पुन: हांगकांग लौटा और वहाँ से जापान पहुँचा। नागासाकी पहला बन्दरगाह था। यहाँ हमारा जहाज कुछ घण्टों के लिए ठहरा और हम गाड़ियों में बैठकर नगर घूमने गये। चीनियों और इनमें कितना अन्तर है ! सफाई में

जापानी लोग दुनिया में किसी से कम नहीं हैं। सभी वस्तुएँ साफ-सुथरी हैं। रास्ते प्राय: सब चौड़े, सीधे और पक्के हैं। प्राय: हर नगर में पिंजड़ों की भाँति छोटे मकान हैं और उन बस्तियों के पीछे चीड़ के वृक्षों के कारण हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। जापानी लोग ठिगने, गोरे और विचित्र वेष-भूषावाले हैं। उनकी चाल-ढाल, हाव-भाव, रंग-ढंग – सभी सुन्दर हैं।

जापान सौन्दर्य-भूमि है। प्राय: प्रत्येक घर के पिछवाड़े एक बगीचा रहता है। इन बगीचों के छोटे-छोटे लता वृक्ष, हरे-भरे कुंज, छोटे-छोटे जलाशय और नालियों पर बने हुए छोटे-छोटे पत्थर के पुल बड़े सुहावने लगते हैं।

नागासाकी से चलकर हम कोबे पहुँचे। यहाँ जहाज से उतरकर हम लोग जापान का मध्य भाग देखने के उद्देश्य से स्थलमार्ग से याकोहामा आये। इस मध्य भाग में हमने तीन शहर देखे। महान् औद्योगिक नगर ओसाका, पूर्व राजधानी क्योटो और वर्तमान राजधानी टोकियो। टोकियो कोलकाता से लगभग दुगना बड़ा होगा और आबादी भी करीब दुगनी होगी। बिना पासपोर्ट के किसी भी विदेशी को जापान के भीतरी भाग में भ्रमण नहीं करने दिया जाता।

जान पड़ता है कि जापानी लोग वर्तमान आवश्यकताओं के प्रति पूर्ण सचेत हो गये हैं। उनकी एक अच्छी सुव्यवस्थित सेना है, जिसमें यहीं के अफसर द्वारा आविष्कृत तोपें काम में लायी जाती हैं और जो संसार में अद्वितीय कही जाती हैं। ये लोग अपनी नौ-शक्ति बढ़ाते जा रहे हैं। मैंने एक जापानी इंजीनियर की बनायी करीब एक मील लम्बी सुरंग देखी है। दियासलाई के कारखाने तो देखते ही बनते हैं। इन्हें जो भी चीज आवश्यक लगती है, उन सबको ये लोग अपने देश में ही बनाने की चेष्टा में लगे हैं। चीन और जापान के बीच चलनेवाली एक जापानी स्टीमर लाइन है, जिसे ये लोग कुछ ही दिनों में बम्बई और याकोहामा के बीच चलाना चाहते हैं।

यहाँ मैंने बहुत-से मन्दिर देखे। हर मन्दिर में प्राचीन बंग -अक्षरों में कुछ संस्कृत मंत्र लिखे हुए हैं। थोड़े-से पुरोहित ही संस्कृत जानते हैं, पर वे सब-के-सब बड़े बुद्धिमान हैं। अपनी उन्नति करने का आधुनिक जोश पुरोहितों तक में प्रवेश कर गया है। जापानियों के विषय में जो कुछ मेरे मन में है, वह सब मैं इस छोटे से पत्र में लिखने में असमर्थ हूँ। मेरी इच्छा केवल यही है कि प्रति वर्ष हमारे बहुत-से नवयुवकों को यहाँ आना चाहिए। जापानी लोगों के लिए आज भारतवर्ष सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं का स्वप्न-राज्य है। और तुम लोग क्या कर रहे हो? जीवन भर केवल बेकार बातें करते रहते हो। आओ, इन लोगों को देखो और उसके बाद जाकर लज्जा से मुँह छिपा लो। सठियाई बुद्धिवालो, देश से बाहर निकलते ही तुम्हारी तो जाति चली जायगी ! अपनी खोपड़ी में वर्षों के अन्धविश्वास का कचरा भरे बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार के शुद्धि-अशुद्धि के झगड़े में ही अपनी शक्ति नष्ट करनेवाले, युगों के सामाजिक अत्याचार से जिनकी सारी मानवता का अस्त हो चुका है, भला बताओ तो सही तुम कौन हो? और इस समय तुम लोग कर ही क्या रहे हो? मूर्खो, किताब हाथ में लिये केवल समुद्र किनारे घूम रहे हो, यूरोपियनों के मस्तिष्क में निकली हुई बातों को लेकर बिना समझे दुहरा रहे हो। तीस रुपये की मुंशीगिरी के लिए या बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़प रहे हो। यही तो भारत के नवयुवकों की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा है। फिर इन विद्यार्थियों के झुण्ड-के-झुण्ड बच्चे भी पैदा हो जाते हैं, जो भूख से तड़पते हुए उन्हें घेरकर 'बाबूजी, खाने को दो, खाने को दो' कहकर चिल्लाते रहते हैं। क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि तुम उसमें विश्वविद्यालय के अपने डिप्लोमा, गाऊन तथा पुस्तकों समेत डूब मरो?

आओ, मनुष्य बनो। उन पाखण्डी पुरोहितों को निकाल बाहर करो, जो सदैव उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा, उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों के अन्धविश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले इनको जड़मूल से निकाल फेंको। **आओ, मनुष्य बनो। अपने अन्धकूप से बाहर निकलो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, अन्य सब देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं। क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि 'हाँ' तो आओ। हम लोग उच्चता और उन्नति के मार्ग में प्रयत्नशील हों।** पीछे मुड़कर मत देखो। अत्यन्त सगे और प्रिय सम्बन्धी रोते भी हों, तो रोने दो, पीछे देखो ही मत। बस, आगे बढ़ते जाओ।

भारतमाता कम-से-कम हजार युवकों का बलिदान चाहती है – मस्तिष्कवाले युवकों का, पशुओं का नहीं। परमात्मा ने तुम्हारी इस जड़ सभ्यता को तोड़ने के लिए ही भारत में अंग्रेजी राज्य को भेजा है और उन्हें भारत में पैर जमाने में सर्वप्रथम मद्रासियों ने ही सहायता दी है। मद्रास ऐसे कितने नि:स्वार्थी और सच्चे युवक देने के लिए तैयार है, जो गरीबों के साथ सहानुभूति रखने, भूखों को अन्न देने और सर्वसाधारण में नवजागृति का प्रचार करने के लिए प्राणों की बाजी लगा कर प्रयत्न करने को तैयार हैं; और साथ ही जो उन लोगों को मानवता का पाठ पढ़ाने के लिए अग्रसर होगा, जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों के अत्याचारों ने पशुतुल्य बना दिया है?

... मुझे कुक कंपनी शिकागो के पते पर पत्र लिखना।

तुम्हारा, विवेकानन्द

पुनश्च – हमें धीर, मौन, परन्तु दृढ़ भाव से कार्य करना होगा। अखबारों में शोरगुल मचाने की जरूरत नहीं। सर्वदा स्मरण रखना – नाम-यश हमारा उद्देश्य नहीं है। – वि.

❖ **(क्रमशः)** ❖
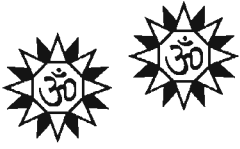
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
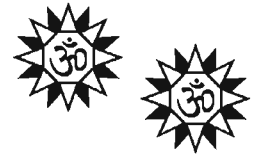
सारा एलेन वाल्डो

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९३ ई. में जब स्वामी विवेकानन्द के चेन्नै (मद्रास) के शिष्यों ने उन्हें शिकागो के विश्व-मेले में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिये भेजने हेतु आवश्यक धन एकत्र करके संकल्प किया, इस समय वे लोग यह भी नहीं जानते थे कि धर्म-महासभा का उद्घाटन किस तारीख को होगा। इसका फल यह हुआ कि स्वामीजी प्रतिनिधियों की सभा के लिये निर्धारित समय के कई महीने पूर्व वसन्त ऋतु में ही वहाँ पहुँच गये। जब उन्हें पता चला कि उन्हें इतने दिनों तक प्रतीक्षा करनी होगी, तो वे बड़े चिन्तित हुए, क्योंकि उनके पास की सीमित धनराशि बड़ी तेजी से खर्च होती जा रही थी। जिन सहयात्रियों को उन्होंने अपने व्यय का भार दिया था, उनकी कुव्यवस्था के कारण उनकी जेब काफी हल्की हो चुकी थी। अमेरिका में अपना कार्य सम्पन्न करने का समय आने के पूर्व तक उस अज्ञात देश में अपने रहने-खाने की व्यवस्था कर पाना भी उनके लिये एक बड़ी समस्या हो गयी। वे बॉस्टन पहुँचे और तत्काल भारत लौटने का प्राय: संकल्प कर चुके थे, परन्तु उनके मोहक व्यक्तित्व के फलस्वरूप उन्हें कुछ मित्र मिल गये और उनका आत्मविश्वास पुन: लौट आया।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक के परिवार में स्वामीजी का काफी स्वागत-सत्कार हुआ। प्राध्यापक महोदय[१] ने उन्हें धर्म-महासभा में भाग लेने की उनकी मूलभूत योजना के अनुसार ही चलने को राजी किया। इन कृपालु मित्र की सलाह पर स्वामी विवेकानन्द शिकागो लौटे और जिन लोगों को धर्म-महासभा में उनके व्याख्यान सुनने को मिले थे, वे उनकी अभूतपूर्व सफलता की बात अब भी याद करते हैं। उनकी मधुर वाणी में उच्चरित प्रारम्भिक शब्दों ने ही प्रशंसा का तूफान खड़ा कर दिया था। जिन हजारों लोगों ने उनकी उन प्रथम उक्तियों को सुना था, उनमें से शायद ही किसी को यह अनुमान रहा होगा कि वे जीवन में पहली बार इस प्रकार श्रोताओं के सम्मुख दण्डायमान हुए हैं। उनका व्याख्यान इतना नपा-तुला था, अंग्रेजी पर उनका ऐसा अधिकार था, उनकी भाषा इतनी चुस्त थी और उनकी मेधा इतनी तीक्ष्ण थी कि हर श्रोता ने यही समझा कि वे एक अनुभवी वक्ता हैं। उस दिन निश्चित रूप से उनके गुरुदेव के ही भाव तथा शक्ति को उनकी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली थी।

धर्म-महासभा की समाप्ति के बाद, स्वामीजी को अमेरिका के विभिन्न भागों में व्याख्यान देने के बहुत-से आकर्षक प्रस्ताव मिले। वे अपने भारतवासी गुरुभाइयों को सहायता भेजने के लिये इतने आकुल थे कि उन्होंने एक व्याख्यान-कम्पनी के साथ अनुबन्ध कर लिया और उसकी व्यवस्था के तहत पश्चिमी प्रान्तों में अनेक व्याख्यान दिये। परन्तु उन्हें शीघ्र ही बोध होने लगा कि ऐसी कार्य-पद्धति उनके लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। ऐसे उटपटांग श्रोताओं के समक्ष वे अपने प्रिय विषयों पर नहीं बोल सकते थे और यह निरन्तर परिवर्तनशील जीवनधारा उनके ध्यानोन्मुखी स्वभाव के लिये बोझ के समान थी। बाद में उनका व्यक्तित्व जैसा विकसित हुआ था, उसकी तुलना में उन दिनों का उनका जीवन बिलकुल ही भिन्न था। उन दिनों वे स्वप्नशील तथा ध्यानप्रवण थे और बहुधा चिन्तन में ऐसे तन्मय हो जाते कि उन्हें अपने परिवेश तक का बोध नहीं रह जाता। प्रतिकूल विचारों के साथ सतत घात-प्रतिघात, असंख्य प्रश्न तथा पाश्चात्य विचारों के साथ प्राय: ही होनेवाले बौद्धिक संघर्ष ने उनमें एक अलग भाव जाग्रत किया और वे उस व्यावहारिक जगत् के प्रति भी अत्यन्त सावधान तथा सतर्क हो गये।

काफी आर्थिक क्षति उठाकर स्वामीजी ने व्याख्यान-कम्पनी से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और स्वाधीन भाव से वे पुन: न्यूयार्क आये। उन्हें अमेरिका की इस महानगरी में लाने में उनका शिकागो का एक मित्र ही कारण सिद्ध हुआ था। १८९४ ई. के प्रारम्भ में वे न्यूयार्क पहुँचे। पाश्चात्य देशों के अनुभवों से उन्हें विश्वास हो गया था कि अमेरिका में ऐसे अनेक लोग हैं, जो भारत के प्राचीन दर्शन को बड़े आनन्दपूर्वक सीखना चाहेंगे। और उन्हें आशा थी कि इस नगरी में वे ऐसे जिज्ञासु लोगों से सम्पर्क स्थापित कर सकेंगे।

वहाँ उन्होंने कुछ सार्वजनिक व्याख्यान दिये, परन्तु अपने मित्रों के यहाँ एक अतिथि के रूप में निवास कर रहे होने के कारण, वे अभी नियमित रूप से कार्य आरम्भ करने की स्थिति में नहीं थे। उस वर्ष के ग्रीष्म काल में वे एक अतिथि के रूप में ही न्यू इंग्लैंड गये और ग्रीनेकर में एक-दो सप्ताह बिताये। वहाँ मिस फार्मर 'ग्रीनेकर सम्मेलनों' का उद्घाटन कर रही थीं। वही आगे चलकर डॉ. लिविस जी. जेन्स द्वारा आयोजित होनेवाले तुलनात्मक धर्मशिक्षा के पीठ के रूप में बड़ा प्रसिद्ध हुआ था। डॉ. लिविस जी. जेन्स बड़े उदारमना थे और दीर्घ

१. वस्तुत: वे अन्यत्र रहते थे, पर स्वामीजी के कार्य में सहायक हुए।

काल तक ब्रुकलिन इथिकल सोसायटी के अध्यक्ष रहे।

पतझड़ के मौसम में स्वामीजी न्यू इंग्लैंड से लौटकर फिर न्यूयार्क आये। वहाँ एक मित्र के बैठकखाने में आयोजित व्याख्यान के समय उनकी डॉ. जेन्स से भेंट हुई। उन्होंने तत्काल ही स्वामीजी की असामान्य व्यक्तित्व तथा उपलब्धियों को समझ लिया और उन्हें ब्रुकलिन समिति में व्याख्यान के लिये आमंत्रित किया। दोनों के बीच एक ऐसा स्नेहपूर्ण मैत्री-सम्बन्ध जुड़ा, जो आजीवन बना रहा।

३० दिसम्बर १८९४ ई. को स्वामी विवेकानन्द ने ब्रुकलिन में पहली बार व्याख्यान दिया और उन्हें तत्काल सफलता मिली। एक विशाल तथा उत्साही श्रोतृवर्ग ने उनका पाउच मेंशन में स्वागत किया। वहाँ तथा ब्रुकलिन के अन्य स्थानों में उनकी एक व्याख्यानमाला हुई। वस्तुत: यहीं से अमेरिका में उनका सार्वजनिक कार्य आरम्भ हुआ। अब वे एक अलग मकान में रहकर उसी में प्रति सप्ताह कई कक्षाएँ लेने लगे। इसके फलस्वरूप उनका अपने छात्रों के साथ और भी अन्तरंग सम्पर्क स्थापित हुआ। स्वामीजी की बातें सुनने तथा भारत की प्राचीन शिक्षाओं – उसके दर्शन के सर्वग्राही विशेषताओं को जानने के लिये कि – प्रत्येक जीव को मुक्ति मिलेगी, सभी धर्म सत्य हैं तथा उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति के मार्ग की सीढ़ियाँ हैं, और सर्वोपरि विश्वव्यापी तथा सार्वभौमिक धार्मिक सहिष्णुता के स्वामीजी की धारावाहिक कक्षाओं को सुनने के लिये सच्चे जिज्ञासु लोग उनके पास एकत्र होने लगे।

उन दिनों स्वामीजी बड़े सीधे-सादे ढंग से न्यूयार्क में निवास कर रहे थे। उनकी प्रारम्भिक कक्षाएँ उन्हीं के छोटे-से कमरे में आयोजित होतीं और उसमें भाग लेने को केवल तीन-चार लोग ही आते। उनकी संख्या में बड़ी आश्चर्यजनक तेजी के साथ वृद्धि हुई और उनका छोटा-सा कमरा ठसाठस भर जाने पर बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था। स्वामीजी सर्वदा फर्श पर बैठते और अधिकांश श्रोता भी वैसा ही करते। श्रोताओं की संख्या क्रमश: इतनी बढ़ गयी कि वे लोग संगमर्मर लगे ड्रेसर पर, सोफा के हत्थे पर तथा धावन-पात्र के किनारे तक, जहाँ भी सिर समाता, बैठ जाते। द्वार को खुला छोड़ दिया जाता और बाकी लोग हाल में या सीढ़ियों पर बैठते। और वे प्रारम्भिक कक्षाएँ क्या ही अद्भुत थीं! क्या ही रोचक थीं! जिन्हें भी उनमें बैठने का सौभाग्य मिला था, वे क्या कभी उन्हें भूल सकते हैं? स्वामीजी इतने भव्य होकर भी इतने सरल, उत्साही तथा भावपूर्ण थे कि उनसे जुड़े हुए सारे शिक्षार्थी समस्त असुविधाओं को भूलकर, उनके प्रत्येक शब्द को एकाग्र चित्त से सुनते रहते।

बाद में विराट् आकार धारण करनेवाली भावधारा का यह एक समुचित प्रारम्भ था। स्वामीजी ने न्यूयार्क में वेदान्त-दर्शन के प्रचार का जो श्रीगणेश किया, वह पूर्णत: आडम्बरहीन था। स्वामीजी ने उन्मुक्त वायु के समान अपनी सेवाएँ मुफ्त ही वितरित कीं। मकान का किराया स्वैच्छिक दानों से चुकाया जाता था और जब वह अपर्याप्त सिद्ध होता, तो स्वामीजी कोई हॉल किराये पर लेकर भारत के किसी सामाजिक विषय पर व्याख्यान देकर धन एकत्र करते और उसी से कक्षाओं का खर्च चलाते। वे कहते कि हिन्दू धर्माचार्यों के मतानुसार शिक्षक का कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने पाठ का खर्च चलाए और छात्र यदि अभावग्रस्त हों तो उनका भी व्यय-भार वहन करे; निर्धन छात्रों की सहायता करने के लिए शिक्षकों को स्वेच्छापूर्वक कोई भी बलिदान स्वीकार करना होगा।

कक्षाएँ १८९५ ई. की फरवरी में प्रारम्भ होकर जून तक चलती रहीं; परन्तु उसके पहले ही शिक्षार्थियों की संख्या पहले की अपेक्षा इतनी बढ़ गयी थी कि उसे नीचे के पूरे बैठकखाने तथा उससे संलग्न स्थानों में लाया गया। प्राय: प्रतिदिन सुबह और सप्ताह में कई बार संध्या के समय भी कक्षाएँ लगती थीं। किसी-किसी रविवार को व्याख्यान भी होता था। फिर जिन लोगों को शिक्षा का विषय नवीन तथा विचित्र प्रतीत होता था, उन्हें और भी विस्तारपूर्वक समझाकर सहायता पहुँचाने की दृष्टि से प्रश्नोत्तरी कक्षाओं की भी व्यवस्था थी।

चार महीनों तक निरन्तर व्याख्यान देने तथा शिक्षा प्रदान करने के उपरान्त जून में स्वामीजी ने एक मित्र का आमंत्रण स्वीकार किया और कुछ दिनों तक पाइन-वनों की निर्जनता में विश्राम करने हेतु पर्सी (न्यू हैम्पसायर) गये। न्यूयार्क से विदा लेने के पूर्व उन्होंने शिक्षार्थियों को आश्वस्त करते हुए कहा कि उनमें से जो लोग वेदान्त में यथेष्ट रुचि रखते हों और उसके लिये सहस्र-द्वीपोद्यान तक जाने के लिये तैयार हों, उनसे वे वहाँ मिलेंगे और उन्हें और भी विशिष्ट उपदेश प्रदान करेंगे। कक्षा में आनेवालों में से एक महिला का वहाँ एक कुटीर था और उसने स्वामीजी को निमंत्रण दिया था कि वे वहाँ उसके अतिथि के रूप में आकर जितने भी दिन चाहें, निवास करें। स्वामीजी ने कहा कि जो लोग अपनी अन्य समस्त रुचियों को परे रखकर वेदान्त के अध्ययन में मनोनियोग करने हेतु उपयुक्त स्थान पर पहुँचने के लिये तीन सौ मील की यात्रा करने को राजी हैं, वे ही सच्चे जिज्ञासु हैं और स्वामीजी उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार करेंगे। उन्हें उम्मीद नहीं थी कि ज्यादा लोग इतना कष्ट उठाने को तैयार होंगे, परन्तु यदि कोई भी तैयार हुआ तो वे अपनी ओर से उन्हें यथासम्भव मार्गदर्शन करेंगे।

लगभग जून के मध्य में, सहस्र-द्वीपोद्यान के एक छोटे-से मकान में छह या आठ शिक्षार्थी एकत्र हुए; और अपने वचन का पालन करते हुए स्वामीजी भी वहाँ २० तारीख को आ पहुँचे और वहाँ सात स्मरणीय सप्ताह बिताये। बाद में कुछ और शिक्षार्थी हमसे आ मिले और अन्तत: हमारी मेजबान को मिलाकर उनकी कुल संख्या बारह तक जा पहुँची।

आध्यात्मिक उन्नति की अपूर्व सम्भावनाओं से परिपूर्ण इन पवित्र सप्ताहों के दौरान जिन सौभाग्यशाली लोगों को वहाँ स्वामीजी के साथ रहने का मौका मिला था, उनके लिये ये चिर काल तक स्मरणीय बने रहेंगे।

निष्ठावानों की जो छोटी-सी टोली न्यूयार्क से स्वामीजी का अनुसरण करते हुए सेंट लारेंस नदी के उस द्वीप तक आयी थी और जो प्रतिदिन आह्लादपूर्वक उनकी सेवा करती तथा हार्दिक कृतज्ञता के साथ उनके उपदेश सुनती, उस टोली के लिये उन आनन्दमय दिनों का क्या महत्त्व था, इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका पूरा हृदय अपने कार्य में लगा था और वे एक ईशप्रेरित के समान शिक्षा दे रहे थे। प्रतिदिन सुबह वे अपना शिक्षादान का कार्य आरम्भ करने के लिये इतने उत्सुक रहते कि उनके लिये गृहचर्या के छोटे-मोटे कार्य समाप्त होने तक प्रतीक्षा करना कठिन हो जाता। हम यथाशीघ्र उन कार्यों को पूरा करके उनके इर्दगिर्द एकत्र हो जाते और दो घण्टों या कभी-कभी तीन घण्टों तक वे निरन्तर अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं की व्याख्या करते रहते। ये विचार हमारे लिये नवीन तथा विचित्र होते, उन्हें आत्मसात् करने में हमें समय लगता; परन्तु स्वामीजी का धैर्य कभी नहीं चुकता, उनका उत्साह कभी मन्द नहीं पड़ता। अपराह्न के समय वे हम लोगों के साथ अधिक अनौपचारिक रूप से बातें करते और हम लोगों के साथ प्राय: दूर-दूर तक टहलने जाते। हर रोज शाम को हम छत पर एकत्र होते, जहाँ से विशाल पाटवाली नदी के जल तथा उसमें बिखरे द्वीपों का शानदार नजारा दीख पड़ता। हमारी निगाहें वहाँ की मनमोहक दृश्यावली में रम जातीं। हमारे पाँवों के नीचे एक घना जंगल फैला होता, जिसके हिलते वृक्षों की चोटियाँ चटकीले हरे रंग के झील के समान, क्रमश: सेंट लारेंस नदी के नृत्यमान नीले जल की लहरों में अन्तर्हित हो जातीं। किसी भी तरह का कोई भवन हमारे दृष्टिपथ में नहीं आता, सिवाय दूर के एक द्वीप पर स्थित एक होटल के, जिसकी टिमटिमाती रोशनियाँ झील की तरंगों पर पड़कर झिलमिलाया करती थीं। प्रकृति के सान्निध्य में हम एकाकी रह गये थे और एक ऐसे आचार्य की वाणी सुनने के लिये वह एक सटीक परिवेश था। ऐसा लगता मानो स्वामीजी हमें सीधे सम्बोधित न करके, अपने प्रति ही अग्निगर्भित शब्द बोल रहे हों। वे शब्द इतने सघन, जीवन्त तथा श्रद्धोत्पादक होते कि श्रोताओं के हृदय में आग के समान प्रविष्ट होकर सदा के लिये उसमें घर कर जाते। हम अपनी साँसें रोके पूर्ण निस्तब्धता के बीच उनकी बातें सुनते रहते। सदा आशंका बनी रहती कि कहीं उनके विचार-प्रवाह में बाधा न पड़ जाय, या फिर उनके किसी दिव्य वाक्य को सुनने से वंचित न रह जायँ।

ज्यों-ज्यों दिन तथा सप्ताह बीतते गये, त्यों-त्यों हममें अपने सुने हुए पाठों का तात्पर्य समझने की क्षमता विकसित होती गयी और हमने बड़े आनन्दपूर्वक उन शिक्षाओं को अंगीकार किया। वहाँ आये प्रत्येक शिक्षार्थी को स्वामीजी से दीक्षा मिली। इस प्रकार सभी उनके शिष्य बन गये और उन्होंने सबके गुरु का स्थान स्वीकार किया, जैसा कि भारत में होता है। भारत में गुरु तथा शिष्य को जोड़नेवाला बन्धन सर्वाधिक अन्तरंग होता है, जो माता-पिता का पुत्र के साथ तथा पति का पत्नी के साथ सम्बन्ध से भी ऊँचा माना जाता है। यह महज एक संयोग ही था कि हमारी संख्या ठीक बारह थी।

दीक्षादान की प्रक्रिया अत्यन्त सहज तथा प्रभावी थी। यह ग्रीष्म ऋतु के एक मधुर सूर्योदय के समय सम्पन्न हुई और उस दिन का दृश्य आज भी हमारे मन में स्पष्ट रूप से अंकित है। छोटी-सी वेदी पर प्रज्वलित अग्नि, सुन्दर पुष्पराशि तथा आचार्यदेव के गम्भीर उपदेशों के कारण यह अनुष्ठान हमारे दैनन्दिन कक्षाओं से भिन्न था। सहस्र-द्वीपोद्यान में जो लोग ब्रह्मचारिणियाँ बनी थीं, उनमें से दो दिवंगत हो चुकी हैं और एक इस समय भारत में रहकर स्वामीजी का परम प्रिय – उनके स्वदेशवासियों की उन्नति के कार्य में निरत हैं। उसके बाद बीते दस वर्षों के दौरान, बाकी के अधिकांश लोगों ने वेदान्त-प्रचार के कार्य में निष्ठापूर्ण सेवा दी है।

अगस्त में स्वामीजी फ्रांस गये और उसके बाद वहाँ से वेदान्त-प्रचार के लिये एक केन्द्र स्थापित करने इंग्लैंड गये। न्यूयार्क के मित्रों तथा शिक्षार्थियों के हार्दिक अनुरोध पर १८९५ ई. के दिसम्बर में स्वामीजी फिर हमारे बीच लौट आये और फिर से कक्षाएँ आरम्भ कीं। प्रति सप्ताह नौ कक्षाएँ होतीं और हर कक्षा में इतने लोग आते कि पूरा कमरा भर जाता। इस बार सौभाग्यवश हम एक अच्छे द्रुतलेखक की सेवाएँ पाने में कामयाब हुए, जो असाधारण योग्यता से सम्पन्न था और बाद में एक निष्ठावान अनुयायी के रूप में उनसे जुड़ गया। वह स्वामीजी तथा उनकी शिक्षाओं पर मंत्रमुग्ध हो गया और सदा के लिये उनके कार्य के प्रति समर्पित हो गया। बाद में वह स्वामीजी के साथ इंग्लैंड तथा भारत भी गया और पूर्णत: उसी के प्रयासों से उन देशों में प्रदत्त स्वामीजी के व्याख्यान संरक्षित हो सके हैं। न्यूयार्क में उसके परिश्रम के फल के रूप में रविवार को होनेवाले व्याख्यानों के कुछ पत्रकों के अतिरिक्त राजयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग नामक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। न्यूयार्क में ज्ञानयोग पर दिये गये स्वामीजी के व्याख्यान उनके सर्वोत्तम व्याख्यानों में थे, परन्तु वे कभी प्रकाशित नहीं हो सके। ज्ञानयोग[२] के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ इंग्लैंड तथा भारत में दिये गये व्याख्यानों का संकलन है।

न्यूयार्क में कुछ अन्य लोग भी शिष्य बने, जिनमें से कुछ लोगों को १८९६ ई. में श्रीरामकृष्ण के जन्मदिवस के अवसर

२. यह न्यूयार्क से १९०२ ई. में प्रकाशित संस्करण के बारे में लिखा गया है। वर्तमान भारतीय संस्करण में न्यूयार्क के व्याख्यान भी हैं।

पर दीक्षा प्रदान की गयी थी। स्वामीजी उस वर्ष के मार्च में व्याख्यान देने बॉस्टन, डिट्राएट तथा शिकागो भी गये। उन्होंने मैसाचुसेट्स प्रान्त के कैम्ब्रिज में कई व्याख्यान दिये और उनमें से एक 'हार्वर्ड व्याख्यान' नाम से एक पत्रक के रूप में प्राप्त है और अमेरिका तथा भारत में काफी लोकप्रिय हुआ है।

अप्रैल के मध्य में स्वामीजी ने पुन: इंग्लैंड की यात्रा की और वहाँ कई महीनों तक व्याख्यान दिये। वहाँ पहले स्वामी सदानन्द और बाद में स्वामी अभेदानन्द भी उनसे आ मिले। स्वामी अभेदानन्द बाद में न्यूयार्क की वेदान्त समिति के प्रमुख हुए। १८९६ ई. के अन्त में स्वामीजी लन्दन से भारत लौटे। उनके साथ उनके निष्ठावान द्रुतलेखक तथा कुछ अन्य अंग्रेज शिष्य भी थे। वहाँ उन्होंने जनहित के अनेक कार्य किये और भारत में दिये हुए उनके बहुत-से व्याख्यान अब पुस्तक-पुस्तिकाओं के रूप में उपलब्ध हैं। दो वर्षों के अति कठोर परिश्रम से स्वामीजी का स्वास्थ्य टूट गया और अति आवश्यक विश्राम के लिये विवश होकर उन्हें बेलूड़ मठ में निवास करना पड़ा। १८९९ ई. के शीत काल के पूर्व उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द के साथ इंग्लैंड की यात्रा की। लन्दन में उन्होंने अधिक समय नहीं बिताया और एक बार फिर वे अमेरिका जा पहुँचे। न्यूयार्क में संक्षिप्त प्रवास के बाद वे कैलीफोर्निया गये। वहाँ का मौसम उनके लिये बड़ा अनुकूल सिद्ध हुआ और लास-एंजेलस से लेकर सैन्फ्रांसिस्को के बीच उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये। इस प्रकार उन्होंने प्रशान्त महासागर के तट पर वेदान्त-प्रचार की सफल शुरुआत की और इस प्रकार आरम्भ हुए कार्य को आगे बढ़ाने के लिये बाद में स्वामी तुरीयानन्द भी कैलीफोर्निया गये। वेदान्त के एक समर्थक ने कैलीफोर्निया की पहाड़ियों पर स्थित एक बड़ा भूखण्ड स्वामी विवेकानन्द को उपहार में दिया था। यह माउंट हैमिल्टन पर निर्मित सुप्रसिद्ध लिक वेधशाला से बारह मील दूर स्थित है। वहाँ शान्ति आश्रम की स्थापना हुई और सैन्फ्रांसिस्को वेदान्त समिति के प्रमुख संन्यासी, ध्यान का आनन्द लेने के इच्छुक अपने भक्तों को साथ लेकर प्रति वर्ष वहाँ जाते हैं और दो माह के लिये एक साधना-शिविर का आयोजन करते हैं। यद्यपि पुराने विशाल वृक्षों के नीचे काठ के भी कुछ कुटीर बने हुए हैं, तो भी अधिकांश लोग तम्बुओं में ही निवास करते हैं।

१९०० ई. की गर्मियों में स्वामीजी न्यूयार्क लौट गये। बीच में वे शिकागो तथा डेट्राएट के मित्रों से मिलने के लिये उन स्थानों पर अल्प काल के लिये ठहरे भी थे। न्यूयार्क पहुँचने पर उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वहाँ की वेदान्त समिति को आखिरकार एक भवन प्राप्त हो गया है, जो इस्ट के ५८वें मार्ग पर स्थित था। स्वामीजी ने उसमें सात सप्ताह बिताये। उन्होंने वहाँ कुछ सार्वजनिक व्याख्यान दिये, परन्तु ऐसे कार्यों के प्रति वे ज्यादा गम्भीर न थे। इस बार वे मुख्यत: अपने पुराने मित्रों तथा शिष्यों से मिलने के इच्छुक थे, और सहस्र-द्वीपोद्यान के दिनों की भाँति अपना अधिकांश समय उन्हें वार्तालाप के माध्यम से उपदेश देने में बिताये। आचार्य तथा उनके शिष्य – दोनों के लिये ही स्पष्टत: यह एक आनन्द का समय था। परन्तु अति शीघ्र ही ये दिन समाप्त हुए।

स्वामीजी को उस वर्ष पेरिस प्रदर्शनी के दौरान आयोजित धर्म-सम्मेलन में व्याख्यान देने का निमंत्रण मिला था। अत: अगस्त में उन्होंने न्यूयार्क से जलयान में यात्रा की। जिस नगर में उन्होंने धर्मशिक्षा तथा व्याख्यान का इतना कार्य किया था, वहाँ वे दुबारा नहीं लौटने वाले थे। यदि वे दीर्घजीवी होते, तो शायद लौटते, परन्तु ऐसा नहीं होने वाला था।

पेरिस में स्वामीजी अनेक महत्त्वपूर्ण लोगों से मिले और अनेक घनिष्ठ मित्र बनाये। उन्होंने फ्रांसीसी भाषा भी यथेष्ट रूप से सीख ली, ताकि अंग्रेजी न जाननेवाले लोगों के साथ भी बातें कर सकें। फ्रांस से वे मित्रों की एक टोली के साथ नील नदी के प्रवाहों का अवलोकन करने मिस्र गये। परन्तु सिकन्दरिया में उन्हें भारत में एक मित्र के देहान्त की सूचना मिली, जिसके कारण उनके लिये तत्काल स्वदेश लौटना आवश्यक हो गया। उनके अनेक पाश्चात्य मित्रों के साथ उनकी दुबारा भेंट नहीं हुई, परन्तु उनकी स्मृति हमारे हृदय से कभी मिट नहीं सकती और हमारे प्रति उनकी स्नेहपूर्ण सेवा के लिये हमारी कृतज्ञता सदा बनी रहेगी। एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आना अमूल्य सौभाग्य की बात है। वे एक सच्चे महात्मा थे और उन्होंने एक ऐसा महान् कार्य सम्पन्न किया, जो उनके अपने देशवासियों और उनके यूरोपीय तथा अमेरिकी मित्रों के जीवन को दीर्घ काल तक प्रभावित करता रहेगा। वे सदा-सर्वदा के लिये धन्य हों! *(प्रबुद्ध भारत, जनवरी १९०६)*
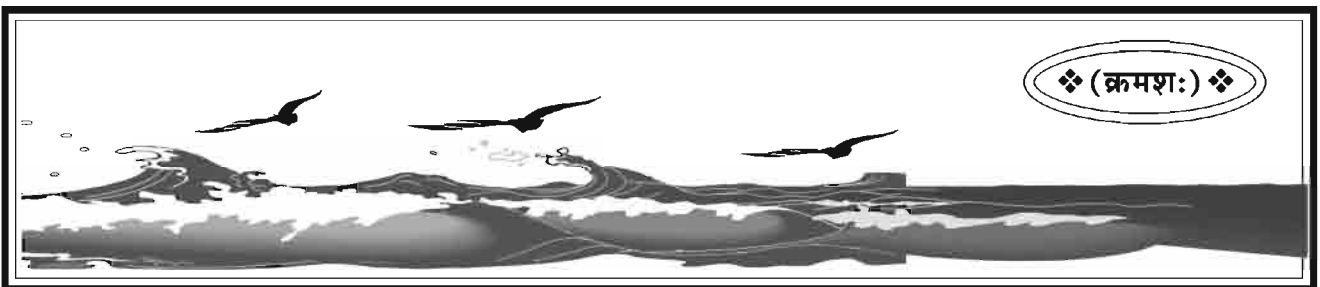
श्रीमाँ के चरणों में

प्रव्राजिका भारतीप्राणा

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९०२ ई. में मैं भगिनी निवेदिता के स्कूल में भर्ती हुई। उस समय स्कूल १७ नं. बोसपाड़ा लेन में था। भगिनी के स्कूल में स्वामीजी प्राय: आया करते, परन्तु तब हम लोग बहुत छोटी थीं[१], इसीलिये ज्यादा याद नहीं। अच्छा डील-डौल और दो बड़ी-बड़ी आँखें – उनके बारे में इतना स्पष्ट याद है। सम्भवत: उसी वर्ष श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि पर भगिनी, हम दस-बारह छोटी बालिकाओं को नाव में बेलूड़ मठ ले गयी थीं। हम सबने स्वामीजी को प्रणाम किया – इन बातों की धुँधली-सी स्मृति मात्र शेष है।

उन दिनों संध्या के बाद शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) स्वयं स्कूल में आकर छात्राओं को गीता सुनाते। उस समय शरत् महाराज की लम्बी दाढ़ी थी। स्त्रियों के लिये परदे की आड़ में बैठने की व्यवस्था थी। हम छोटी बालिकाएँ आँगन में बैठतीं, भगिनी हम लोगों के पास बैठतीं। भगिनी हम सबको घोड़ागाड़ी में ले आतीं। शरत् महाराज सीढ़ी के पास छोटी-सी जगह में बैठकर पाठ करते। हम लोगों को नींद आ जाती, तब भगिनी हमें गोद में लेकर घर पहुँचा जातीं।

योगीन-माँ, गोलाप-माँ भी प्राय: स्कूल में आतीं। वे प्राय: रोज ही बलराम मन्दिर आतीं और लौटते समय भगिनी से मिलकर जातीं। भगिनी उन्हें साष्टांग प्रणाम करतीं। वे लोग भी ठुड्डी पकड़कर भगिनी को दुलार करतीं और पूछतीं – "निवेदिता, तुम कैसी हो?"

एक दिन भगिनी हम कई बालिकाओं को साथ लेकर माँ के पास गयीं। तभी मैंने माँ को पहली बार देखा। उन दिनों वे बागबाजार स्ट्रीट के किराये के मकान में रहती थीं। हम लोग प्रणाम कर बाहर खड़ी हो जातीं और भगिनी माँ के पास बैठकर बातें करतीं। इसके बाद हम प्रसाद लेकर लौटतीं।

१९०९ ई. में माँ उद्बोधन-भवन में आयीं। उस समय भगिनी एक दिन माँ को स्कूल में लायी थीं। उस दिन मैंने भगिनी को आनन्द-विभोर होते देखा था। उन्होंने एक छोटी बालिका के समान दौड़-दौड़कर पूरे स्कूल को सजाया था।

उन दिनों भगिनी बीच-बीच में हमें माँ के पास ले जातीं। तब हम लोग कुछ जानती या समझती न थीं। तो भी भगिनी के साथ घूमना, माँ के पास जाना आदि बड़ा अच्छा लगता।

स्कूल के प्रति मेरे मन में प्रबल आकर्षण था, उसे छोड़ घर जाने की इच्छा ही नहीं होती। बड़े होने के साथ-साथ यह आकर्षण मानो और बढ़ने लगा। जब सुधीरा दीदी आयीं, तब मैं थोड़ी ऊँची कक्षा में थी। हमारे प्रति उनका अद्भुत स्नेह था। हमारे मन में भी उनके प्रति अपार प्रेम था। सुधीरा दीदी खूब चेष्टा करतीं कि सबके मन में धर्मभाव जाग्रत हो।

मेरे घर का नाम पारुल था; सुधीरा दीदी ने बदलकर 'सरला' रखा। बीच-बीच में वे मुझे माँ के पास ले जातीं।

उसी वर्ष पूजा की छुट्टियों में १३ अक्टूबर १९११ ई. को भगिनी निवेदिता ने देहत्याग किया। सुधीरा दीदी को बड़ा कष्ट हुआ। वे बहुत बीमार हो गयीं।

स्वामी प्रज्ञानन्दजी उन दिनों उद्बोधन में थे। उन्होंने कहा, "एक दिन माँ का दर्शन कर आओ।" सारी व्यवस्था भी उन्होंने ही कर दी। डॉक्टर दुर्गापद बाबू की स्त्री माँ का दर्शन करने जा रही थीं, उनसे कह दिया कि वे रास्ते में मुझे अपनी गाड़ी में बिठाकर माँ के पास लेती जायँ। मैं उनके साथ उद्बोधन गयी, पर उस दिन माँ का बलराम-मन्दिर में निमंत्रण था। उनके लौटते ही हम लोगों को भी घर लौटना पड़ा, इसलिये बातचीत बिल्कुल नहीं हो सकी। माँ भी दुखी होकर कहने लगीं, "अहा, बेटी, तुम आयी और मैं बैठकर दो बातें भी न कर सकीं।" उन्होंने खूब स्नेहपूर्वक आशीर्वाद दिया।

उस बार बेलूड़ मठ की पूजा में पूज्य बाबूराम महाराज माँ को ले गये थे। सुधीरा दीदी पूजा के बाद पुरी जाने वाली थीं। पूजा के समय वे कई दिन माँ के साथ थीं। एकादशी के दिन लौटकर त्रयोदशी के दिन वे पुरी रवाना हुईं।

स्वामी प्रज्ञानन्द एक दिन आकर बोले, "महाष्टमी के दिन बेलूड़ मठ जाकर माँ को एक बार अवश्य प्रणाम कर लो।" परन्तु मेरा भाग्य खोटा था। सोचा था कि नौकरानी के साथ जाऊँगी, पर उस दिन उसे दमे का भीषण दौरा आया। न जा पाने के कारण रोते-रोते मेरी आँखें फूल गयीं – वह पूरा दिन मैंने केवल रो-रोकर ही बिताया। महाष्टमी के दिन माँ का

१. प्रव्राजिका भारतीप्राणा का जन्म जुलाई १८९४ ई. में हुआ था।

दर्शन नहीं कर सकी ! चित्त में बड़ी व्यथा हो रही थी। रात में मैंने एक बड़ा सुन्दर स्वप्न देखा – देखा कि मैं मठ में गयी हूँ और माँ को प्रणाम कर रही हूँ।

परन्तु पूजा के तत्काल बाद मुझे आशातीत आनन्द मिला। माँ काशी गयी थीं और सुधीरा दीदी की भी तब छुट्टियाँ चल रही थीं, वे मुझे साथ लेकर काशी गईं। साथ में नरेश दीदी, प्रफुल्ल मौसी और वाणी भी थी। माँ लक्ष्मी दत्त के मकान में ठहरी थीं। हमें रामापुरा के पास एक मकान में स्थान मिला। हम सुबह-शाम माँ के पास जाते। काली-पूजा के समय माँ काशी में थीं और हम लोग जगद्धात्री-पूजा के बाद गये थे। वे लोग इधर-उधर घूमने जातीं, पर मैं अधिक समय माँ के पास ही बिताती। उसी बीच माँ की जन्मतिथि पड़ी थी। पौष के अन्त में हम लोग कोलकाता लौटे।

श्रीमाँ के (जयरामबाटी से अन्तिम बार उद्बोधन-भवन में) आने के चार दिन बाद ही शरत् महाराज ने मुझे माँ की सेवा की लिये बुला भेजा। फाल्गुन मास के मध्य में मैं माँ की सेवा के लिये उद्बोधन चली गयी। इसके बाद श्रावण मास में माँ का देहत्याग हुआ। दिन-पर-दिन माँ का स्वास्थ्य बिगड़ता देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता, रुलाई आ जाती। एक दिन मैंने खूब रो-रोकर माँ से कहा था, "आपके चले जाने पर मैं किसी भी तरह जीवित नहीं रह सकती।" माँ बोलीं, "बेटी, अवश्य जाओगी, मेरे ही पास जाओगी। लेकिन मेरा कुछ काम बाकी है, उसे पूरा करके तब जाओगी।"

उस समय माँ के साथ राधू, उसका पुत्र, नलिनी, छोटी मामी – ये सब लोग आये थे। नेड़ा[२] की मृत्यु हो गयी थी, उसकी याद कर माँ को कष्ट होगा ऐसा सोचकर माकू और नलिनी किसी तरह उद्बोधन में रहना नहीं चाहती थीं। अत: उनके रहने की व्यवस्था बलराम बाबू के मकान में हुई।

उन दिनों माँ को प्राय: रोज ही बुखार आता। बाद में वह काला ज्वर में परिणत हुआ। मैं माँ को भोजन कराना, उनका बिस्तर लगाना, नियमित रूप से दवाइयाँ देना, आदि सेवा करती। नवासन की बहू भी इनमें मेरी सहायता करती। शरत् महाराज ने बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाया। तरह-तरह की चिकित्सा तथा ग्रह-शान्ति आदि किये गये। श्मशान-स्वस्त्यसन, जप-यज्ञ आदि सभी कुछ किये गये, पर माँ दिन-पर-दिन और भी दुर्बल तथा दुबली होने लगीं। खाने से उन्हें बिल्कुल अरुचि हो गयी, कुछ भी नहीं खा पाती थीं। आषाढ़ का महीना आते-आते उन्होंने पूरी तौर से बिस्तर पकड़ लिया। इतनी बीमारी के बावजूद एक दिन वे मेरी कलाइयों की ओर देखती हुई बोलीं, "सुधीरा ने कैसी पतली-पतली तीन चूड़ियाँ बनवा दी हैं। अच्छा नहीं दिख रहा है। मैं ठीक हो जाने पर तेरे लिये चार-चार मोटी चूड़ियाँ बनवा दूँगी।"

२. माकू दीदी का पुत्र। माँ उसे बड़ा स्नेह करती थीं।

मैंने कहा, "यह सब तो होगा माँ, पर आप जल्दी से स्वस्थ हो जाइये, उसी में हम लोगों का आनन्द है।"

वे नलघर में जाया करतीं। एक दिन बोलीं, "यदि एक छोटी-सी लाठी मिल जाती, तो उसी के सहारे आराम से जाती।" अगले दिन देखा गया कि कमरे के कोने में कोई एक छोटी-सी लाठी रख गया है, ठीक उनके नाप के अनुसार। वही लाठी लेकर माँ नलघर में जातीं।

ज्वर क्रमश: और भी बढ़ने लगा। दिन में दो-तीन बार जाड़ा देकर बुखार आता। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया, एक दिन वे स्वयं बोलीं, "अब देख रही हूँ कि मुझे कमरे में ही सब करना होगा, अब उठा नहीं जाता। ठाकुर को इस कमरे से किसी अन्य कमरे में ले जाओ। और पलंग को हटाकर फर्श पर मेरा बिस्तर लगा दो।" ठाकुर को तीसरी मंजिल के कमरे में ले जाया गया। उन दिनों माँ के शरीर में बड़ी जलन होती। सुधीरा दीदी की व्यवस्था के अनुसार निवेदिता स्कूल की बालिकाएँ आकर बारी-बारी से माँ को पंखा झलतीं। वाणी, गीता, कनक, शिवा – ये लोग बारी-बारी से सुबह से शाम तक रहतीं और रात में प्रफुल्ल मौसी तथा चपला दीदी आतीं। ये भी सारी रात बारी-बारी से माँ को पंखा झलतीं। तभी प्रफुल्ल-मौसी को किसी काम से कुमिल्ला जाना पड़ा।

उस समय माँ राधू, माकू या उनके बच्चों को अपने पास नहीं आने देतीं। राधू के बारे में कहतीं, "उसे गाँव भेज दो।" एक दिन मैं बोली, "आप हमेशा कहती हैं, भेज दो, भेज दो। क्या आप राधू को छोड़कर रह सकेंगी?" वे खूब दृढ़ता से बोल उठीं, "खूब रह सकूँगी, माया काट दिया है।" यदि कभी मैं राधू-माकू के बच्चों को उनके पास ले जाती, तो वे कहतीं, "सरला, इन्हें हटा लो। क्यों लायी हो?" एक दिन उन्होंने शरत् महाराज को बुलाकर राधू-माकू को गाँव भेज देने को कहा। महाराज बोले, "माँ, आपकी ऐसी बीमारी की अवस्था में उन्हें गाँव भेज देने से उनके मन में बड़ा दु:ख होगा। कुछ दिन और रहने दीजिये।" इस पर माँ ने केवल इतना ही कहा, "भेज देने से अच्छा रहता, और कुछ नहीं।" वे लोग अन्त तक उद्बोधन में ही रहीं, परन्तु माँ के कमरे में नहीं जातीं।

तब माँ की वैद्यकी चिकित्सा चल रही थी। उनका सारा खाना लकड़ी की आग पर बनता। माँ को खाने में कोई रुचि नहीं थी। रोज थोड़ा पोस्तो खातीं। अमरुल का साग पसन्द करतीं। बेलूड़ मठ से रोज अमरुल-साग आता। थोड़ा-सा भात खातीं। वैद्य ने कहा था कि इन्हें जो चीज अच्छी लगे, खा सकती हैं। दूध जितना अधिक पी सकें, उतना ही अच्छा है। दूध के बराबर ही उसमें पानी मिलाना होगा। फिर लकड़ी की आग पर सारा पानी जलाने के बाद वही दूध माँ को देना होगा। हाथ-पैरों में सूजन के कारण भोजन में नमक नहीं

पड़ता था। थोड़ा-सा सेंधा नमक चूल्हे पर रखकर चूरा करके शीशी में रख लेते, उसी को थोड़ा-सा खाने में मिला दिया जाता। बिस्तर पर तकिये को खड़ा करके उसके सहारे बैठा कर गोद में एक तौलिया बिछा दिया जाता। थाली को फर्श पर रखकर मैं उन्हें थोड़ा-थोड़ा खिलाती। कभी-कभी वे एक छोटी कटोरी में लेकर अपने हाथ से ही खाती। पर दुर्बलता के कारण अधिक देर तक कटोरी पकड़े नहीं रख पातीं।

मैं माँ को दूध पिलाती और थर्मामीटर भी लगाती। बीच-बीच में वे दूध पीना जरा भी पसन्द नहीं करतीं। तब मैं कहती, "महाराज को बुलाऊँ?" (मेरे 'महाराज को बुलाऊँ' कहने पर वे छोटे बच्चे की तरह चुपचाप पी लेतीं) रात के ग्यारह बजे वे आखिरी बार दूध पीतीं। एक रात मैं उन्हें दूध पिलाने गयी। माँ हठ कर बैठीं, "मैं दूध नहीं पीऊँगी।" कैसे भी न पीते देखकर मैं बोली, "माँ, तो क्या महाराज को बुलाऊँ?" माँ ने कहा, "बुला अपने महाराज को, मैं नहीं पीऊँगी।" उस समय सब लोग सो चुके थे। महाराज अपने कमरे के एक किनारे फर्श पर बिस्तर लगाकर सोये थे। मैंने उन्हें जगाया नहीं। पर मेरे लौटते ही माँ ने पूछा, "क्यों, बुलाया नहीं?" मैं फिर गयी। महाराज के सिरहाने जाकर धीरे से खाँसने की आवाज करते ही वे हड़बड़ा कर उठ बैठे। मुझसे सारी बातें सुनकर वे उठकर माँ के सिरहाने खड़े हो गये। माँ के कमरे में एक दीपक और बाहर एक लालटेन जल रहा था। माँ ने पूछा, "शरत् आया क्या?"

मैं – "हाँ माँ, आपके सिरहाने खड़े हैं।"

माँ – "कहाँ हो, आओ बेटा, पास आओ, बैठो" – कहकर उन्होंने उन्हें अपने बिलकुल पास बैठने को कहा। – "देखो बेटा, इतनी रात को तुम्हें जगाकर कष्ट दिया है।"

माँ के शरीर तथा सिर पर थोड़ी देर हाथ फेरने के बाद महाराज ने खूब धीरे से पूछा, "माँ, अब थोड़ा पीयेंगी?" माँ के 'पीऊँगी' कहते ही वे बोले, "सरला थोड़ा-सा पिला दे"।

माँ – "नहीं, वह नहीं पिलायेगी। रात-दिन कहती है, 'माँ, खाओ, खाओ' और बगल में काठी लगाओ। उसने यही दो काम सीखा है। मैं उसके हाथ से नहीं पीऊँगी, तुम्हीं मुझे पिला दो।" महाराज के दोनों हाथ उस समय थर-थर काँप रहे थे, कैसे पिलाते ! बड़े नर्वस हो गये थे। पर मैंने भी ठान लिया था कि जो भी हो मैं नहीं पिलाऊँगी। माँ जब कह रही हैं, तो महाराज ही पिलायेंगे। यद्यपि उस समय मेरे चेहरे पर हँसी थी, पर महाराज के सामने माँ के ऐसा कहने से मुझे बड़ा दु:ख हुआ था। लालटेन पास लाकर मैंने फीडिंग कप में दूध ढाल दिया। महाराज थोड़ा-थोड़ा करके माँ के मुँह में ढालने लगे। फिर बोले, "माँ, थोड़ा सुस्ताकर पीजिये।"

माँ – "देखा, कैसी सुन्दर बात ! माँ, थोड़ा सुस्ताकर पीजिये। ऐसी बात ये लोग कहना ही नहीं जानतीं।"

माँ के दूध पी लेने पर महाराज ने माँ का बिस्तर ठीक करके धीरे-धीरे मसहरी गिराकर उसे चारों ओर से खोंसकर बोले – "माँ, तो फिर मैं जाऊँ?"

माँ – "जाओ बेटा, जाओ। अहा, मेरे बच्चे को कितना कष्ट हुआ। वह जगा लायी। जाओ बेटा। दुर्गा ! दुर्गा !"

पहले माँ महाराज के सामने लम्बा घूँघट काढ़े रहतीं, कभी बोलती नहीं थीं। महाराज के मन में इस बात का दु:ख था और वे हँसकर कहते, "मानो मैं उनका ससुर हूँ।" उन दिनों बहुएँ ससुर को मुख नहीं दिखातीं, घूँघट काढ़े रहतीं। इसलिये महाराज कहते, "माँ ने मेरे मन का वह क्षोभ मिटाने के लिये ही इस प्रकार मेरे हाथ की सेवा ग्रहण की थी।"

अगले दिन मैंने महाराज से कहा, "लगता है माँ मुझसे कुछ नाराज हैं। मैं न तो उन्हें दूध पिलाऊँगी और न ही थर्मामीटर लगाऊँगी। आड़ में रहकर सारी व्यवस्था करूँगी।"

महाराज – "भात तो तुम्हीं को खिलाना होगा न?"

मैं – "हाँ, भात मैं खिलाऊँगी। बाकी सब काम करूँगी। केवल दूध पिलाना और थर्मामीटर लगाना अन्य कोई करे।"

वह दिन इसी प्रकार बीता। पर माँ का हर तरफ ध्यान था। अगले दिन सुबह मैंने माँ का सब काम करने के बाद नवासन-बहू से कहा, "कपड़े बड़े गन्दे हो गये हैं। मैं इन्हें बोर्डिंग स्कूल[३] में दे आती हूँ, लौटकर माँ को भात खिलाऊँगी।" मेरे जाने के बाद माँ ने नवासन की बहू से पूछा, "सरला कहाँ गयी?" यह सुनकर कि मैं बोर्डिंग में गयी हूँ, वे बोलीं, "सरला क्या मुझसे रुष्ट होकर गयी है?" बहू – "नहीं माँ, सरला-दीदी नाराज क्यों होंगी? वे तो कपड़े देने गयी हैं। कह गयी हैं कि लौटकर आपको भात खिलायेंगी।"

माँ – "नहीं, वह मुझसे नाराज होकर चली गयी है।"

मेरे वहाँ पहुँचते ही बहू ने मुझसे सब कुछ बताया। माँ के कमरे में प्रविष्ट होते ही माँ ने मुझे पास बुलाकर कहा, 'बेटी तुम मुझसे नाराज हो?" "नाराज क्यों होऊँगी माँ? – मेरे इतना कहते ही वे बोलीं, "तो फिर मुझे दूध क्यों नहीं पिला रही हो? बगल में काठी नहीं लगा रही हो? बेटी, मैं रोग से भोगते-भोगते कैसी हो गयी हूँ, न जाने कब क्या कह बैठती हूँ ! मेरी बात पर नाराज न होना बेटी" – कहकर मुझे सीने से लगाकर दुलार करने लगी। मैं खूब रोने लगी।

हम सभी समझ रहे थे कि माँ अब अधिक दिन नहीं रहेंगी। गोलाप-माँ, योगीन-माँ रोते हुए कहतीं, "ग्रह-शान्ति आदि सब तो किया गया माँ, कुछ भी बाकी नहीं रहा, तो भी कुछ हुआ नहीं।" चिन्ता में गोलाप-माँ का हृदय-रोग बढ़ गया। एक दिन माँ ने महाराज को बुलाकर कहा, "शरत्, गोलाप, योगीन और ये लोग तुम्हारे जिम्मे हैं, इन्हें देखना।"

३. भगिनी निवेदिता का स्कूल

अन्तिम दिनों में एक दिन स्वामी हरिप्रेमानन्द जयरामबाटी के नये कुँए से माँ के लिये जल ले आये। वह जल थोड़ा-सा माँ के मुँह में दिया गया। हरिप्रेम महाराज ने कहा – "किशोरी महाराज ने आपके कमरे की फर्श सीमेंट से पक्की कर दी है। गाँव जाने पर अब आपको कष्ट नहीं होगा।"

माँ बोली "किशोरी (स्वामी परमेश्वरानन्द) ने मिट्टी की जगह सीमेंट क्यों किया? मिट्टी का फर्श ही ठीक था। यह सब करने की क्या जरूरत थी? क्या किशोरी सोचता है कि मैं फिर वहाँ जाऊँगी? मेरा जाना अब नहीं होगा।"

देहत्याग के एक दिन पहले से ही माँ को सांस लेने में तकलीफ होने लगी। उसके एक दिन पूर्व ही मेरा पेट खराब हो जाने से शरीर में इतनी दुर्बलता आ गयी कि मुझमें हिलने की भी शक्ति न रही। महाराज ने मुझसे उनके कमरे में ही बैठकर झोल-भात खा लेने को कहा। इधर माँ का श्वास-कष्ट इतना बढ़ गया कि उनकी तकलीफ देखी नहीं जा रही थी। मकान के तीनों मंजिलों में उनके हाँफने की आवाज सुनाई दे रही थी। आँखें मानो बाहर निकल रही थीं। माँ ने कोई भेद-भाव नहीं किया है। कितने ही पापी-तापियों को आश्रय दिया है, इसीलिये उन्हें इतना कष्ट है। कमरा साधु-भक्तों से भर गया। मैं और सुधीरा दीदी सारी रात माँ के चरणों के पास बैठी रही। योगीन माँ ने मुझसे कहा कि मैं एक लोटे पानी में माँ के पाँवों के दोनों अँगूठे डुबाकर चरणामृत बना लूँ। माँ के साँस के साथ-साथ मैं उनके मुख में एक-एक बूँद गंगा-जल डालने लगी। साँस लेने की आवाज क्रमश: धीमी पड़ने लगी। क्रमश: सब शान्त हो गया। उस समय रात का एक बजा था। वह श्रावण चौथ (१३२७ बंगीय) का दिन था।

माँ के जिस मुख की ओर देखना कठिन था, उसी में अब रूप मानो समा नहीं पा रहा था, ठीक दुर्गा-प्रतिमा की तरह !

माँ को पतली लाल किनारी की रेशमी साड़ी पहना दी गयी। अगले दिन ११ बजे माँ की खाट को सिर पर रखकर काशीपुर होते हुए वराहनगर के कुठीघाट ले जाया गया। गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ ने मुझे साथ जाने को मना करते हुए कहा था, "और क्या देखने जाओगी?" सुधीरा-दीदी बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर बाहर ले गयीं। उस समय खूब भगवन्नाम और हरि-कीर्तन हो रहा था। उस समय मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। उन लोगों के साथ-साथ कुठीघाट तक गयी। वहाँ से महाराज लोग और भक्त लोग माँ को साथ लेकर एक बड़ी नाव में सवार हुए। हम स्त्रियाँ साथ-साथ एक छोटी नाव में गयीं। दो बजे बेलूड़-घाट पर पहुँचकर माँ को आम के वृक्ष के नीचे ले जाया गया। इसके बाद वहाँ पूजा और भोग निवेदित किया गया। बाद में घाट पर स्नान कराया जायेगा। कपड़े से पर्दा किया गया। मैंने और सुधीरा दीदी ने माँ के शरीर को उठाया गंगाजी के जल में उतारकर उन्हें स्नान कराया। शरीर के असह्य ताप से त्रस्त होकर माँ प्राय: ही कहतीं, "गंगा में ले चलो, गंगा में ले चलो।" तब माँ का शरीर खूब हल्का और कोमल लग रहा था ! स्नान के बाद उन्हें एक नयी पतली लाल किनारी की साड़ी पहनायी गयी। अब साधु लोग उन्हें फिर आम्रवृक्ष के नीचे ले गये। वहाँ माँ की पुन: आरती हुई। मैंने सब कुछ देखा, पर मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। इसके बाद आज जहाँ माँ का मन्दिर है, वहीं चिता सजायी गयी। अब मैं वह दृश्य नहीं देख पा रही थी, क्या देखती? सुधीरा दीदी के पीछे सो गयी। चन्दन की लकड़ी पर माँ को सुलाकर शरत् महाराज तथा अन्य महाराज लोग बेलपत्र, धूना तथा गुग्गुल के साथ प्रदक्षिणा करते हुए आहुति देने लगे। प्रबोध दीदी ने बलपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर खींचते हुए उठाकर बोली, "एक बार देख न कितना सुन्दर लग रहा है।" देखा अग्नि-शिखा आकाश को छूती हुई खूब ऊँची उठ रही है। उन दिनों आजकल की तरह ट्राम-बस की सुविधा न थी, इसलिये भीड़ बहुत ज्यादा नहीं थी। आग धू-धू कर जल रही थी। उस समय उस पार वर्षा हो रही थी, पर इस पार वर्षा नहीं थी।

माँ का शरीर बिल्कुल नहीं दिखा। न जाने क्या देखने को मिले – यह सोचकर इतनी देर आँखें उठाकर नहीं देखा था। हम लोगों ने प्रदक्षिणा करके तीन बार आहुति दी।

लौटने के बाद सुधीरा दीदी मुझे बोर्डिंग में ले गयीं। मैं वहीं रही, दो-तीन दिन उद्‌बोधन नहीं गयी। इच्छा नहीं हो रही थी। सूना भवन, क्या देखूँगी? योगीन-माँ ने बुला भेजा। माँ का कमरा तब भी खाली पड़ा था। उधर देखा नहीं गया; नेत्रों से निरन्तर अश्रुपात होता रहा। योगीन-माँ रोती जा रही थीं और कह रही थीं, "तुम लोग भी यदि न आओ, तो हम कैसे रह सकेंगी? माँ चली गयीं, सब सूना लग रहा है।"

सुना कि नलिनी दीदी, माकू आदि अगले दिन जयरामबाटी चली जायेंगी। वे भी रोने लगीं, बोलीं, "सरला दीदी ! हम जा रही हैं, कौन जाने दुबारा कब भेंट हो !" महाराज के साथ उस दिन भेंट नहीं हुई। उसके बाद मैं बीच-बीच में उद्बोधन जाती। तेरहवें दिन भण्डारा हुआ – बेलूड़ मठ में पुरुषों के लिये और उद्बोधन में स्त्रियों के लिये। शरत् महाराज ने इधर का भार लिया। उसी दिन माँ के कमरे में उनका पट स्थापित किया गया, जो अब भी पूजित है, माँ के जीवन-काल में वह इतने दिन दीवाल पर टँगा था। रासबिहारी महाराज उसे उतारकर बोले, "माँ की यही चित्र स्थापित हो।" शरत् महाराज ने कोई आपत्ति नहीं की। बोले, "रासबिहारी ने माँ की बड़ी सेवा की है, वह जिद कर रहा है, तो ठीक है, वही स्थापित की जायेगी।" उसी दिन से माँ की नित्य भोग-राग तथा पूजा शुरू हुई। उस दिन चण्डी गान हुआ था और भक्तों को भलीभाँति प्रसाद दिया गया था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

दैवी सम्पदाएँ (१२) अक्रोध

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

अक्रोध अर्थात् क्रोध का अभाव दैवी सम्पत्तियों में बारहवीं सम्पत्ति है और क्रोध आसुरी सम्पत्तियों में चौथी। आचार्य शंकर के मतानुसार अक्रोध का अर्थ है – दूसरों के द्वारा गाली या ताड़ना दिये जाने पर भी उत्पन्न क्रोध को शान्त कर लेना – **अक्रोधः परैः आक्रुष्टस्य अभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनम्**। यों तो क्रोध जीवमात्र की जन्मजात प्रवृत्ति है। ऐसा कोई भी नहीं है, जिसमें क्रोध की सत्ता न हो, परन्तु यह मानव का मूल स्वभाव नहीं है। यह उसके मन का विकार है। जब मन बाहरी कारणों से क्षुब्ध हो जाता है और शान्ति भंग हो जाती है, तब क्रोध मूर्तिमान हो उठता है। 'भाव-प्रकाश' में क्रोध की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है –

क्रुत् क्रौर्यं तेन सर्वत्र धक्ष्यतीत्यस्य निर्बहः ।
क्रुध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते ।।

अपकार की इच्छा और घृणा के हेतु ताप के आवेश का नाम क्रोध है – **अपचिकीर्षा-जुगुप्सा-हेतुः परि-तापावेशः क्रोधः**। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है, जिसका देवता रुद्र और वर्ण रक्तिम है। शत्रु आलम्बन विभाव तथा उसकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। भ्रूभंग, ओष्ठ-निदर्शन, बाहु-स्फोटन, तर्जन, रोमांच, स्वेद, कम्प, मद, आक्षेप, क्रूर दृष्टि आदि अनुभाव हैं। क्रोधी की ये चेष्टाएँ होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध में इसे परिभाषित किया है – "क्रोध दुःख के सचेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है, साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है।" कभी-कभी इस कार्य-कारण के सम्बन्ध में भूल हो जाती है, तो वहाँ क्रोध धोखा दे जाता है। फलस्वरूप पश्चात्ताप होता है। लज्जा एवं ग्लानि की अनुभूति होती है।

क्रोध की विशेषतायें –

क्रोध की कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं –

१. क्रोध अन्धा होता है अर्थात् क्रोध में व्यक्ति की विचार शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपना या दूसरे का भला या बुरा नहीं सोच पाता। हितैषियों का कल्याणकारी परामर्श भी उसे स्वीकार्य नहीं होता और न उस पर कुछ विचार करता है।

२. क्रोध के पीछे प्रतिकार अथवा सुरक्षा की भावना छिपी रहती है। यह एक प्रकार की यांत्रिक रक्षा-प्रणाली भी है।

३. क्रोध की चेष्टाओं का लक्ष्य आलम्बन को हानि या पीड़ा पहुचाने के पूर्व उसमें भय का संचार करना होता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है, वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चात्ताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है।

४. कभी-कभी क्रोध का लक्ष्य दूसरे के दर्प या अहंकार को चूर्ण करना होता है और अपमान का प्रतिकार भी।

५. क्रोध सदा दूसरों पर ही नहीं होता, कभी-कभी स्वयं पर भी होता है। क्रोधी स्वयं को पीड़ा पहुँचाता है। जिसका अन्तिम लक्ष्य है आलम्बन को वह अनुभूति कराना कि उसके दुःख का एकमात्र कारण वही है।

६. क्रोध प्राणों को हरनेवाला मित्रमुख शत्रु है। वह अधिक धारदार तलवार है। वह सबको नष्ट करनेवाला है –

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोमित्रमुखः रिपुः ।
क्रोधो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ।

क्रोध में अहंकार इन्द्रियों की दमनशीलता का अभाव तथा असंयमशीलता होती है। क्रोधी मानसिक रूप से दुर्बल होता है। दुर्बल देहवाले छोटी-छोटी बातों पर झल्ला उठते हैं। लोभी-लालची, कामी और स्वार्थी वृत्ति के लोगों में क्रोध अधिक होता है। दुर्जनों का क्रोध विषधर के समान होता है। वे अपने क्रोध को स्वार्थ की पूर्ति होने तक दबाते भी हैं।

७. क्रोध शान्तिभंग करनेवाला मनोविकार है। यह राजसी भाव है। क्रोध के प्रभंजन से चित्त का शान्त जलाशय विक्षुब्ध हो जाता है और कीचड़ के समान तल में बैठी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ ऊपर आ जाती हैं।

८. क्रोध की प्रवृत्ति बाह्योन्मुखी होती है, अन्तर्मुखी नहीं होती। इसमें व्यक्ति क्रोध के बाहरी कारण को ही देखता है, आत्मोन्मुखी होकर आन्तिरक कारणों पर विचार नहीं करता।

९. मन्यु, अमर्ष और चिड़चिड़ाहट क्रोध के ही रूप हैं। इनमें व्यक्ति विवेक नहीं खोता। बुद्धि का सन्तुलन बना रहता
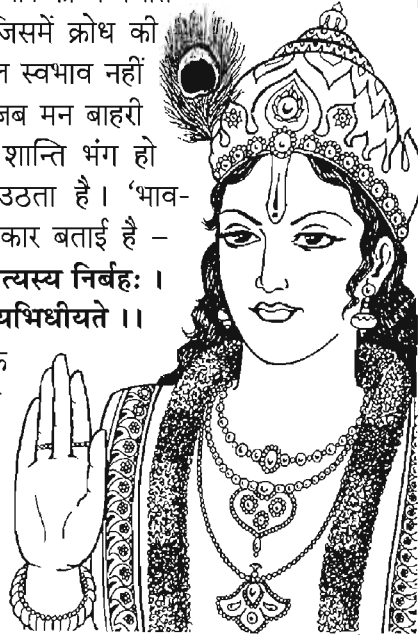
है। जब किसी के प्रति किया गया क्रोध हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहता है, तब बैर का रूप धारण कर लेता है। "बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।" (आचार्य शुक्ल)

१०. क्रोध की सामाजिक उपयोगिता है। इसमें सामाजिक सन्तुलन स्थापित होता है। विरोधी हिंसात्मक वृत्तियाँ दबी रहती हैं। यदि क्रोध न हो, तो दूसरे के द्वारा पहुँचाये जाने वाले दु:ख की समाप्ति नहीं होगी और वह लगातार दु:ख पहुँचाता रहेगा। अत्याचारी और अनाचारी पर क्रोध नहीं हुआ, तो न तो समाज की जीवितता प्रमाणित होगी और न मानवीय मूल्यों की आकांक्षा तथा सुरक्षा की अनुभूति।

११. क्रोध दया और करुणा का उपकारी भी है। अत्याचारों से पीड़ित व्यक्ति के प्रति पहले दया और करुणा के भाव ही उमड़ते हैं। तदनन्तर क्रोध से अत्याचारी को भयभीत, आंतकित, प्रताड़ित या दण्डित कर व्यक्ति की रक्षा होती है।

१२. क्रोध वैयक्तिक तथा सामाजिक होता है। वैयक्तिक दु:ख की अनुभूति से जब क्रोध उद्दीप्त होता है, तब वह वैयक्तिक क्रोध की सीमा में आता है और जब इसका आधार पर-दु:ख-कातरता होता है, तब यह सामाजिक क्रोध का रूप धारण कर लेता है। यह स्व के वृत्त की सीमा से जितना दूर होगा, उतना ही इसमें सौन्दर्य जगमगायेगा। यही काव्य का आलम्बन बन कर सामाजिकों को रसानुभूति के साथ मानव मूल्यों की आकांक्षा तथा रक्षा की ओर उत्प्रेरित करता है। क्रौंच पक्षी के वध और तपस्वियों की हड्डियों को देखने से वाल्मीकि तथा श्रीराम के हृदयों से प्रस्फुटित करुणा, क्रोध की लावण्यमयी रसधार के रूप में प्रवाहित होती है, वह चेतना-सम्पन्न तथा संवेदना-संप्लावित जनों को जितना आह्लादित करती है, वह कहने की आवश्कता नहीं है।

१३. क्रोध व्यक्तिगत और समूहगत भी हो सकता है। समूह समाज से भिन्न होता है और वह भीड़ के मनोविज्ञान से परिचालित होता है। जाति, वर्ण, लिंग, सम्प्रदाय आदि आधारों पर बना समूह अपना सामूहिक क्रोध प्रकट करता है, किन्तु उसका कारण पर-दु:ख-कातरता न होने से वह अभिनन्दनीय नहीं बनता, क्योंकि समूह के समस्त सदस्य स्व की परिधि में समाहित हो जाते हैं। उनके क्रोध में निर्विशेषता नहीं होती, जो काव्य का अलंकार बन सके। ऐसा व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रोध हिंसा तथा पापमय है और उसे नि:शेष करना अपेक्षित है।

चूँकि धर्मशास्त्रों तथा आचार्यों ने व्यक्ति को समाज का मूल आधार माना है, अत: व्यक्ति-परिवर्तन से समाज-परिवर्तन और व्यक्ति-निर्माण से समाज-निर्माण का सिद्धान्त स्वीकार कर व्यक्ति के परिष्कार एवं संस्कार का मार्ग प्रशस्त किया है। बुराइयों की भयावहता का समग्र निरूपण और कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण कर उनसे बचने के उपाय सुझाये हैं, वैयक्तिक साधना पर बल दिया है। गीता में कहा है कि यह क्रोध रजोगुण से उत्पन्न है – **रजोगुण-समुद्भवः**। महापापी है। इस बैरी क्रोध से ज्ञानी का ज्ञान भी ढँक जाता है। अत: उसके ज्ञान-दीपक का प्रकाश लोगों को आलोकित करने में समर्थ नहीं होता। नरक के तीन द्वार हैं – काम, क्रोध और लोभ। जिसे नरक में जाना हो, उसकी आत्मा के विनाश के लिये ये तीनों द्वार सदा खुले हैं; और जो नरक जाने से बचना चाहता है, उसे इन तीनों का त्याग करना पड़ेगा। इन तीनों से विमुक्त मनुष्य ही आत्म-कल्याण की साधना के पथ पर अग्रसर होकर परम गति – भगवान को पा सकता है।

गीता में काम से क्रोध की उत्पत्ति निरूपित हुई है। काम विषयों के निरन्तर चिन्तन से उद्भूत आसक्ति का फल है। (२/६२) जब एक व्यक्ति की कामनाओं की पूर्ति में कोई अन्य व्यक्ति बाधक बनता है या बाधक बनने की सम्भावना होती है, तो वह दु:ख का कारण हो जाता है। फिर उसे मार्ग से हटाने, दण्डित करने या उसे अपनी भावनाओं से अवगत कराने के लिये व्यक्ति पहले क्रोध करता है। क्रोध से चित्त में मोह उत्पन्न होता है और मोह से स्मृति के विलुप्त होने पर सत्यासत्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, इसके उपरान्त व्यक्ति का विनाश अवश्यम्भावी है (२/६२-६३) –

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।

तुलसीदासजी ने लिखा है – 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।' ये नरक के मार्ग हैं, अत: इन्हें छोड़ श्रीराम का भजन करो, जिनकी उपासना सन्त करते हैं –

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक कै पन्थ।
सब परिहरि रघुबीरहिं भजहुं भजहिं जेहि सन्त।।

तुलसी की जीवित मृतकों की सूची में क्रोधी भी सम्मिलित है। दुर्जन का क्रोध शेषनाग जैसा है – जस शेष-सरोषा। वे – 'काम, क्रोध, मद, लोभ परायन' होते हैं। बाहर के खलों की कौन कहे, जब तीन-तीन खल अपने भीतर ही बैठे हैं और जो मुनियों के मन को भी विक्षुब्ध कर देते हैं –

तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विग्यान धाम मन करहिं निमिष महिं छोभ।।

काम वात, लोभ कफ और क्रोध पित्त है। तीनों भाई हैं। इनसे हृदय जलता रहता है। यदि इन तीनों का प्रेम किसी से हो गया, तो बस उसे दु:खदायी सन्निपात से ग्रसित समझिये।

काम बात, कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दु:खदाई।।

क्रोध जहर से भी खतरनाक हैं; क्योंकि जहर जिसके पास रहता है, उस अपने आश्रयदाता की कुछ हानि नहीं करता, जबकि क्रोध अपने आश्रयदाता को ही जला देता है –

क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महद्-अन्तरम् ।
स्वाश्रयं दहति क्रोधः कालकूटो न चाश्रयम् ।।

क्रोध में मनुष्य का ही बुरा हाल नहीं होता, अपितु पशु-पक्षियों की भी हालत बुरी हो जाती है। पेलिकन एक दुर्बल, पर क्रुद्ध स्वभाव का पक्षी है। जब उसके बच्चे तंग करते हैं, तो क्रोध के आवेश में वह उनकी हत्या कर देती है। इसके बाद वह शोकाकुल हो अपनी चोंच से स्वयं को घायल कर देती है और रक्तधार बहाकर अपने मृत बच्चों को जीवित करती है। क्रोध में व्यक्ति की जैसी क्षति होती है, उतनी शत्रु भी नहीं कर पाता, क्योंकि बाहरी शत्रु से तो हम सावधान रहते हैं, पर घर में छिपा हुआ शत्रु ऐसा हमला करता है कि हमें ध्यान ही नहीं रहता। क्रोध की प्रमादावस्था में सामाजिक विघटन का इतना बड़ा पाप होता है, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। जो क्रोध के उत्पन्न होने पर अपने विवेक से सावधान हो जाता है, क्रोधरूपी शत्रु को पछाड़ देता है, ज्ञानीगण उसे तेजस्वी की संज्ञा से विभूषित करते हैं –

यस्तु क्रोधे समुत्पन्ने प्रज्ञया प्रतिबुध्यते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।।

क्रोधियों की दशा क्या होती है? कुछ प्रसंगों के निदर्शन से स्पष्ट हो जायेगा। प्रथम प्रसंग नारदजी का ही लीजिये। उन्होंने श्रीराम को कितने कटु वचन कहे –

सुनत वचन उपजा अति क्रोधा ।
माया बस न रहा मन बोधा ।।
पर सम्पदा सकहु नहिं देखी ।
तुम्हरे इरिषा कपट बिशेखी ।।
मथत सिन्धु रुद्रहिं बौरायहु ।
सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायहु ।।
असुर सुरा बिष संकरहि, आपु रमा मनि चारु ।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु ।।

नारदजी ने कहा कि तुमने अच्छा घर बायन दिया है। अपनी करनी का फल पाओगे। उन्होंने शाप दे दिया।

भले भवन अब बायन दीन्हा ।
पावहुगे फल आपन कीन्हा ।।
मम अपकार कीन्ह तुम भारी ।
नारि विरहं तुम्ह होब दुखारी ।।

क्रोध में नारदजी विनाश के कगार तक पहुँच गये, किन्तु – 'न मे भक्तः प्रणश्यति', 'नास न होहि दास कर' की मर्यादा के अनुकूल उनका नाश नहीं हुआ। जिस प्रकार माता बालक की रक्षा करती है, यदि वह आग को पकड़ने जा रहा हो, तो वह रोक लेती है, उसी प्रकार भगवान अपने भक्त को भी काम क्रोधादि की ओर जाने से रोक लेते हैं। जब उनकी बुद्धि से माया का परदा हट गया, तब वे प्रभु के चरणों को पकड़कर क्षमा माँगने लगे – 'गहे पाहि प्रनतारति हरना।'

परशुरामजी ने बड़ा क्रोध दिखाया। लक्ष्मणजी की मुस्कान देख बिगड़ गये। पदनखों से लेकर सिर तक क्रोध से भर उठे – **हँसत देखि नख शिख रिस व्यापी ।** बोले – यदि फरसे से इसका गला नहीं काटा, तो मेरा क्रोध सच्चा नहीं –

एहि के कण्ठ कुठारु न दीन्हा ।
तौ मैं काह कोपु करि लीन्हा ।।

श्रीराम जी से उन्होंने कहा –

परसुराम तब राम प्रति, बोले उत अति क्रोधु ।
संभु सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोधु ।।

जिन परशुरामजी का क्रोध अग्नि के समान था, जिसमें राजाओं की आहुति बलि-पशुओं के रूप में दी जाती थी, उन्हीं भृगुवंशी ऋषि की मति पलट गई और वे पानी-पानी होकर क्षमा माँगने लगे –

अनुचित बहुत कहेंउ अग्याता ।
छमहु छमा-मन्दिर दोउ भ्राता ।।

कैकेयी क्रोध में ऐसी लग रही थी मानो क्रोध की तरंगिनी में बाढ़ आ गई हो – 'मानहु क्रोध तरंगिनी बाढ़ी।' क्रोध की यह तरंगिनी पाप के पहाड़ से निकलकर राजा दशरथ रूपी तटवृक्ष को ढहाती हुई विपत्ति-सागर की ओर बढ़ रही है –

पाप पहार प्रकट भई सोई ।
भरी क्रोध जल जाइ न जोई ।।
ढाहत भूपरूप तरु मूला ।
चली विपति वारिधि अनुकूला ।।

उसी कैकेयी के अनुताप के स्वर हैं –

अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया। (साकेत)

ऋषि दुर्वासा क्रोध के पर्याय हैं। उन्होंने एक बार राजा अम्बरीष पर क्रोध किया। उन्हें मारने के लिये कृत्या छोड़ी, परन्तु भगवान के सुदर्शन चक्र ने उस कृत्या को नष्ट करने के बाद जब ऋषिराज को अपना लक्ष्य बनाया, तब उन्हें अपने प्राणों के भी लाले पड़ गये। वे इधर-उधर भागने लगे। त्रिदेवों से प्रार्थना भी की, पर सबने अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्त में उन्हें राजा अम्बरीश के ही चरणों में गिरना पड़ा और तब उनके प्राणों की रक्षा हुई।

उपुर्यक्त उदाहरण इस सत्य के साक्ष्य हैं कि जीवन की किसी भी समस्या का समाधान क्रोध से नहीं होता। उसका परिणाम अनुताप होता है। पर प्रश्न यह है कि इसे कैसे जीता जाय? कुछ शास्त्र-अनुमोदित उपाय अधोलिखित हैं –

(क) विषस्य विषमौषधम् – की नीति के अनुसार क्या क्रोध से क्रोध पर विजय पाई जा सकती है? – कदापि नहीं,

क्रोध से क्रोध को नहीं जीता जा सकता। उसे अक्रोध से ही जीता जा सकता है – **अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्**। क्षमा बहुत बड़ा अस्त्र है, क्रोध को काटने का। पृथ्वी क्षमा की साक्षात् मूर्ति है। लोग उसे पैरों तले रौंदते हैं? रोम-रूप वनस्पतियों को उच्छिन्न करते हैं, उरोज-रूप पर्वतों को गोले-बारूद से फोड़ते हैं? मल-मूत्र का उत्सर्जन करते हैं, पर वह सब को सहती और क्षमा करती है। महात्मा ईसा को सलीब पर लटकाया गया, शरीर में कीलें ठोंककर रात भर यातनायें दी गईं, पर इतने अमानवीय कष्टों को सहकर भी उनके मुख से आततताइयों के प्रति अपशब्द नहीं निकले, उन्होंने उन्हें क्षमा किया। उनका विश्वास था कि यदि तुम दूसरों को क्षमा करते हो, तो ईश्वर तुम्हें क्षमा करेंगे। क्षमा उपचार है अपमान और निन्दा का। ऐसा करनेवालों के प्रति कृतज्ञ बनना, उनका सम्मान और प्रशंसा करना – भगवान बुद्ध की मुदिता-करुणा तथा मैत्री का सूत्र – क्रोध के शमन का अचूक उपाय है।

(ख) क्रोध के निरोध का मार्ग है कि अपने इन्द्रियों के झरोखों को बन्द कर दिया जाय, ताकि इनसे मन के घर के भीतर विषयों की दूषित बयार न घुसे। झरोखों में जहाँ-तहाँ विलासी देवता बैठे हैं, जो विषय-वायु के चलने पर कपाट खोल देते हैं, जिससे ज्ञान का दीपक बुझ जाता है।

इन्द्री द्वार झरोखा नाना।
जहं-तहं सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं विषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी।।
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई।
तबहि दीप विग्यान बुझाई।।
इन्द्रिय सुरन्ह न ग्यान सोहाई।
विषय भोग पर प्रीति सदाई।।

यदि इन इन्द्रियों को नियंत्रित कर लिया जाय, तो मन भी नियंत्रित हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रियाँ ही मन को आकृष्ट करती हैं। क्रोध का अधिष्ठान बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा – हे अर्जुन, तू इन्हें नियंत्रित करके इस पापी क्रोध को नष्ट कर। (३/४०-४१) जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, वही स्थितप्रज्ञ है और स्थितप्रज्ञ सदा क्रोध से मुक्त रहता है। (२/५५-६१)

(ग) क्रोध का कारण है द्वैतबुद्धि – यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, और वे अन्य हैं, पराये हैं, मुझसे भिन्न हैं, उन्हीं से मुझे दुःख मिल रहा है। इस द्वैतबुद्धि का आधार अज्ञान है, माया है – "क्रोध कि बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" यदि इस द्वैत-बुद्धि का विसर्जन हो जाय, क्रोधी और क्रोध-पात्र की सत्ताएँ एक हो जायँ, तो फिर क्रोध होगा ही नहीं।

(घ) क्रोधादि के समन का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको अपने द्वारा जीतना है। जिसने अपने आपको जीत लिया है, उसका भला कौन शत्रु हो सकता है? सभी तो उसके मित्र हैं। फिर वह क्रोध करेगा भी तो किस पर –

बन्धुरात्मात्मनः तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।

(ङ) क्रोधादि माया के सेनापति हैं और माया भगवान की दासी है। जिस पर स्वामी का अनुग्रह हो गया, उस पर माया अपने क्रोधादि सेनापतियों के द्वारा आक्रमण नहीं करती –

क्रोध मनोज लोभ मद माया।
छूटहिं सकल राम की दाया।।

प्रभु की भक्ति से डरकर माया भक्त के पास नहीं जाती और उसे भारी मानसरोग भी नहीं होते –

खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
बसइ भगति जाके उर माहीं।।
व्यापहिं मानसरोग न भारी।
जिन्हके बस सब जीव दुखारी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोध मानव के पतन और अक्रोध उसके उत्थान की दिशाएँ हैं। क्रोध यदि असुरत्व का प्रतीक है, तो अक्रोध सुरत्व के अधिरोहण का सोपान है। क्रोध निम्नतम तथा अक्रोध उच्चतम जीवन का मूल्य है। भारतीय-मानस ने सर्वदा उच्चतम मूल्यों की आकांक्षा की है और जीवन सर्वोच्च प्राप्तव्यों के प्रति समर्पित रहा है। भारतीय मनीषा ने मानव की दुर्बलताओं को जितनी गहराई से पहचाना है और उनकी विवेचना कर उन्हें दूर करने की व्यावहारिक प्रकिया निरूपित की है, जीवन में उसका जितना अनुप्रयोग किया है, उतना दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता। 'गीता' जीवन-साधना की अनुपम निर्देशिका है, जिसके माध्यम से चाहे तो हम कितने ही बौने क्यों न हो, ऊँचे लगे फलों को सहजता से तोड़ सकते हैं, महाशत्रु क्रोध को नष्ट करके अपने भीतर अक्रोध रूपी दैवी गुण विकसित कर सकते हैं, जिससे हम समाज में सृजन, निर्माण और रचनापरक योगदान कर जीवन की महनीय सफलता को सुलभ बना सकते हैं। गीता कहती है –

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।

काम और क्रोध से रहित, नियंत्रित चित्तवाले योगीजन, जिन्होंने आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उन्हें न केवल मृत्यु के उपरान्त ही, अपितु जीवित अवस्था में भी परमात्म पद प्राप्त होता है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

कटिहार आश्रम : अब गाँवों में भी

रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार ने ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् २००६-२००७ में कटिहार तथा आसपास के गरीबों के लिये निम्नलिखित कार्य किये –

१. स्वावलम्बन योजना – इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आश्रम ने ५३ लोगों की निम्नलिखित प्रकार से सहायता की –

(क) २२ लोगों को एक-एक रिक्शा दिया गया।
(ख) १२ लोगों को एक-एक पशु दिया गया।
(ग) १० महिलाओं को एक-एक सिलाई मशीन दी गयी।
(घ) एक व्यक्ति को एक वैन-रिक्शा दिया गया।
(ङ) ८ लोगों को एयरटेल का पीसीओ दिया गया।

२. विकलांगों की सहायता – ६ विकलांगों को एक-एक तिपहिया साइकिल दी गयी।

३. किसानों की सहायता – अनेकों ग्रामीणों को गेहूँ की खेती के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की गई।

४. नि:शुल्क शिक्षण-केन्द्र – आश्रम द्वारा बच्चों की शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के लिये विभिन्न गाँवों में १० नि:शुल्क शिक्षण केन्द्र चलाये जा रहे हैं, जिनमें ३ कटिहार में और ७ विभिन्न गाँवों – बुद्धनगर, डी. भट्ठा, बरिया टिकर, अम्बेडकर कॉलोनी, मनिया, विवेकानन्द कॉलोनी और बैगना में हैं। इन सभी केन्द्रों में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं को कॉपी, पेन, पेंसिल आदि नि:शुल्क प्रदान किये जाते हैं तथा छात्रों हेतु शैक्षिक उपकरण – मानचित्र, ग्लोब, ब्लैक बोर्ड आदि भी आश्रम के द्वारा प्रदान किया जाता है। इस योजना से ३८६ लड़के और २६१ लड़कियाँ लाभान्वित हुये।

५. छात्राओं की सहायता – इस वर्ष एक नजदीकी स्कूल के दो छात्राओं की पढ़ाई का वर्ष भर का पूरा खर्च दिया गया। एक समीपस्थ बस्ती में सिलाई-प्रशिक्षण-केन्द्र का संचालन किया जा रहा है, जिसमें ८ छात्रायें प्रशिक्षण ले रही हैं।

६. चल-चिकित्सा केन्द्र – आश्रम एक चल-चिकित्सालय भी चलाता है, जो सप्ताह में एकबार निकटस्थ सात गाँवों में जाकर वहाँ के लोगों को नि:शुल्क दवा और चिकित्सा की सुविधा प्रदान करता है।

८. धर्मार्थ औषधालय – आश्रम के धर्मार्थ अँग्रेजी दवाखाने से इस क्षेत्र के लोगों को काफी सहायता मिलती है। इसमें एक चिकित्सक और दो कम्पाउंडर हैं। रोगियों को नि:शुल्क दवायें दी जाती हैं। इस वर्ष १८,५०० रोगियों का इलाज किया गया।

९. राहत और कल्याण कार्य – (क) इस वर्ष स्थानीय गरीब लोगों में ५२५ सेट बच्चों के वस्त्र और ३०० कम्बल वितरित किये गये। (ख) आग से जले दो परिवारों को उनके घर बनाने में सहायता की गयी।

कटिहार आश्रम में स्वामी विवेकानन्द की मूर्ति का अनावरण – ७ अप्रैल, २००७ को रामकृष्ण मिशन आश्रम, कटिहार के विद्यालय-भवन में स्वामी विवेकानन्द जी की पूर्ण आकार की मूर्ति का अनावरण रामकृष्ण मठ एवं मिशन के सह-सचिव स्वामी शिवमयानन्द जी महाराज के द्वारा किया गया।

दक्षिण अफ्रीका में रामकृष्ण मिशन

दक्षिण अफ्रीका के डरबन में रामकृष्ण मिशन ने अपने एक नये केन्द्र का श्रीगणेश किया है। इस केन्द्र नव-नियुक्त अध्यक्ष स्वामी विमोक्षानन्द जी जब सोमवार, २६ मार्च, २००७ को प्रात:काल दक्षिण अफ्रीका के डरबन नगर में पहुँचे, तब सैकड़ों भक्त उनकी वहाँ प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी का रामकृष्ण सेन्टर, दक्षिण अफ्रीका के पदाधिकारियों द्वारा डरबन अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर उत्साह के साथ स्वागत किया गया। उसके बाद उन्हें ग्लेन अनिल, आश्रम में ले जाया गया, जहाँ भक्तगण उनसे मिलने को एकत्र थे। उसी दिन शाम को उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया गया और सन्ध्या-आरती के लिये वहाँ उपस्थित ४०० से भी अधिक भक्तों को उन्होंने सम्बोधित भी किया।

अगले दिन २७ मार्च, २००७ को पुण्य रामनवमी के दिन स्वामी विमोक्षानन्द जी ने उस केन्द्र के अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। उस दिन शाम को भी ४०० से भी अधिक संख्या में भक्त संध्या-आरती हेतु उपस्थित थे। सत्संग के समय केन्द्र के एक ट्रस्टी के द्वारा स्वामी विमोक्षानन्द जी का परम्परागत ढंग से स्वागत तथा सम्मान किया गया। पारम्पारिक भारतीय वेश में सजे तीन बच्चों ने आगे बढ़कर स्वामी विमोक्षानन्द जी को एक गुलदस्ता भेंट किया, जिसमें अनेक प्रकार के दक्षिण अफ्रीकी पुष्प सजाये हुए थे और वह उनके भविष्य के कार्यों का प्रतीक था। डरबन के बहुत महत्त्वपूर्ण नागरिकों की उपस्थिति में सभा को सम्बोधित करते हुये स्वामी विमोक्षानन्द जी ने सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका के केन्द्र का रामकृष्ण संघ में विलय होने की घोषणा की और उसके बाद शुभ रामनवमी के उपयुक्त सन्देश दिया। उनके सत्संग से भक्तों ने अपने हृदय में आनन्द और सन्तुष्टि का बोध किया। आरती के बाद सभी भक्तों ने उन्हें प्रणाम किया और उनके हाथों से प्रसाद ग्रहण किया।

१५ अप्रैल, २००७ को इस केन्द्र का ६५ वाँ स्थापना-वर्षोत्सव था। इस केन्द्र के लगभग ३००० भक्त और शुभेच्छु 'लेडी स्मिथ इन्डोर स्पोर्ट्स स्टेडियम' में स्वामी विमोक्षानन्द जी का गर्म-जोशी से स्वागत करने तथा ६५वाँ स्थापनोत्सव मनाने हेतु उपस्थित हुये थे। वेद-पाठ, भक्ति-संगीत और शस्त्रीय भारतीय नृत्य (कत्थक) की प्रस्तुति के बाद सभा के मुख्य अतिथि, रिपब्लिक ऑफ दक्षिण अफ्रीका के मुख्य न्यायाधीश श्री पी. एम. लंगा ने सभा में उपस्थित लोगों को सम्बोधित किया। न्यायाधीश श्री लंगा ने इस केन्द्र द्वारा छह दशकों में किये गये विभिन्न धार्मिक और जन-कल्याणकारी कार्यों की प्रशंसा की। इन बहुत से कार्यों से वहाँ के आदिवासी क्षेत्रों में निग्रो भाइयों की सेवा – भोजन, चिकित्सा एवं शिक्षा की सहायता हुई। न्यायाधीश श्री लंगा ने रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की दो महत्वपूर्ण उपदेशों पर बल दिया – नि:स्वार्थ सेवा और सर्व-धर्म-समन्वय। उन्होंने कहा कि दक्षिण अफ्रीका के विकास के लिये इन दोनों उपदेशों की अत्यन्त आवश्यकता है।

भक्तगण स्वामी विमोक्षानन्द जी के व्याख्यान को सुनने के लिये व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे। अत: तत्काल बाद बोलते हुए स्वामी विमोक्षानन्द जी ने सर्वप्रथम रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष स्वामी गहनानन्द जी महाराज द्वारा प्रेषित भक्तों के लिये शुभाशीश का पाठ किया और उसके बाद स्वामी निश्चलानन्द और इस केन्द्र के संस्थापकों तथा स्वयं-सेवकों के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये। श्रीरामकृष्ण के कुछ चयनित उपदेशों के साथ सारगर्भित व्याख्यान देते हुये उन्होंने कहा कि परमात्मा सभी प्राणियों में विद्यमान है। सर्वधर्म समभाव और मानवीय गौरव परमात्मा की अनुभूति में मूलत: विद्यमान हैं। महिलायें पुरुषों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। भारत और दक्षिण अफ्रीका, दोनों देशों में अभी भी महिलायें उपेक्षित हैं। महिलाओं को इन बन्धनों से मुक्त करना होगा, तभी वे समाज में एक सार्थक भूमिका निभा सकेंगी। सबमें दिव्यता ही विद्यमान है, ऐसा मानकर हम सभी बन्धनों को पवित्र बना सकते हैं और तब कर्म पूजा बन जायेगा।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि सभी धर्म परमात्मा तक पहुँचने के सत्य मार्ग हैं। सभी धर्म के लोगों में परस्पर सद्भाव, समन्वय तथा सह-अस्तित्व वर्तमान युग की जरूरत है। परस्पर सम्मान और सर्वधर्मों के प्रति समादर के द्वारा हम विविधता से आनन्द ले सकते हैं। स्वामीजी के व्याख्यान की सबसे प्रंशसा की।

इसके बाद मधुर संगीत तथा सामंजस्य के लिये प्रसिद्ध लेडीस्मीथ कोरल आर्टिस्ट्स ने अँग्रेजी तथा जुलू भाषा में श्रीरामकृष्ण विषयक भजन प्रस्तुत किये। जब उनकी आवाजों से स्टेडियम गूँज रहा था, उस समय सभी श्रोताओं ने उनकी ईश-स्तुति में निहित आन्तरिकता का अपने हृदय में अनुभव किया।

उसके बाद रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुसज्जित नर्तक मंच पर आये और उन्होंने निपुणता के साथ 'कृष्ण-आरती' की प्रस्तुति की। शान्ति-प्रार्थना के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

धर्माचार्यों के सिवा कार्यक्रम में भाग लेनेवाले गणमान्य लोगों में थे – क्वा जूलू नटाल के अध्यक्ष न्यायाधीश, लेडी स्मिथ के मेयर, मुख्य जिलाधीश, समीपस्थ दो सैन्य-शिविरों के कमांडिंग ऑफीसर और वरीष्ठ सैन्य अधिकारी, नगरपालिका के पार्षद और केन्द्र के अन्य शुभचिन्तक। एक विशेष बात है कि आस-पास के लगभग ४०० निग्रो गणमान्य महानुभावों ने भी कार्यक्रम में अपना अमूल्य समय प्रदान किया। सचमुच ही यह एक बहुवर्गीय और बहु-सांस्कृतिक कार्यक्रम था। लेडी स्मिथ के मेयर ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुये कहा कि इस कार्यक्रम ने सबमें शान्ति तथा सद्भावना का संचार किया है। उनकी इच्छा थी कि सभी लोग प्रेमपूर्वक एक साथ रहें और एक साथ कार्य करें।

इस कार्यक्रम के बाद सभी ३००० आगन्तुकों को दोपहर का भोजन दिया गया। और श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य की नि:शुल्क पुस्तकें दी गयीं।

आश्रम की दैनिक गतिविधियाँ

१. प्रतिदिन ध्यान, वेदपाठ, पूजा, आरती और मन्दिर में शास्त्र-पाठ, प्रतिदिन व्याख्यान, सेमिनार, अफ्रीकी परम्परागत धर्म तथा वेदान्त-संवाद से युक्त ऑडियो-विजुअल प्रस्तुति।

२. श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य महापुरुषों की जयन्ती तथा वार्षिक दुर्गा-पूजा का आयोजन।

३. पोषण कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रतिदिन लगभग ६००० अभावग्रस्तों को दैनिक उपयोग की चीजें, सब्जियाँ, पका भोजन दिया जाता है। अभावग्रस्तों में अधिकांश अफ्रीकी गरीब बच्चे हैं।

४. स्वास्थ्य सेवा – इसके अन्तर्गत वर्ष में लगभग ७५०० गरीबों (अधिकांश अफ्रीकी) को विशेषज्ञ चिकित्सा तथा सर्जिकल सेवायें दी जाती हैं। दी जानेवाली सेवाओं में स्वास्थ्य शिविर, मोतियाबिन्द का ऑपरेशन, हिप प्रत्यावर्तन सर्जरी आदि हैं।

५. प्रकाशन – 'ज्योति' त्रैमासिक पत्रिका (५३ वर्ष) और जुलु तथा अफ्रीकान भाषा में पुस्तिकाओं का प्रकाशन।

६. पुस्तक विक्रय विभाग – यह प्रतिदिन खुला रहता है यहाँ हिन्दु-शास्त्र, रामकृष्ण-विवेकानन्द-वेदान्त साहित्य, बच्चों की पुस्तकें, सी.डी., फोटो-फ्रेम आदि उपलब्ध कराये जाते हैं।

७. शोध-ग्रन्थालय (नान लेंडिंग) प्रतिदिन खुलता है। इसमें २३०० पुस्तकें हैं।

८. पशु चिकित्सालय – हर तीन महीने में अनौपचारिक तौर पर शिविर लगाये जाते हैं।

९. कानूनी परामर्श विभाग – इसमें १४ वकील वरिष्ठ नागरिकों, अनाथों, गरीबों को त्रैमासिक कानूनी सलाह देते हैं।

१०. भारतीय संस्कृति का अध्ययन – पत्राचार के माध्यम से विश्वविद्यालय के समकक्ष एक-वर्षीय पाठ्यक्रम चलाया जाता है, जिसमें दो सेमेस्टर में परीक्षायें होती हैं। छात्रों की कुल संख्या १२६ हैं।